गढ़वाली भाषा

:

एक भाषाशास्त्रीय
और व्याकरणिक अध्ययन

गढ़वाली भाषा

डॉ॰ गोविन्द चातक

१०८ ए. कनाट प्लेस देहरादून

भूमिका

डॉ० गोविन्द चातक के 'गढ़वाली भाषा' शीर्षक इस संक्षिप्त अध्ययन का मैं स्वागत करता हूँ। मुख्य पुस्तक चार भागों में विभक्त है : १. ध्वनितत्व, जिसमें स्वर और व्यंजन ध्वनियों का पृथक विवेचन है, २. रूप तत्व, जिसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रियापद पर अलग अलग अध्याय हैं, ३. अव्यय, तथा ४. प्रत्यय और उपसर्ग। ग्रंथ के आरंभ में 'सामान्य परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत गढ़वाल, गढ़वाली बोली तथा गढ़वाली शब्दकोष पर विस्तार से विचार किया गया है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट स्वरूप गढ़वाल की उपबोलियों से संबंधित रोचक सामग्री है, और अन्त में गढ़वाली भाषा के कुछ प्रामाणिक उदाहरण 'चयनिका' शीर्षक से दिये गये हैं।

मैंने पुस्तक को आद्योपांत्त ध्यान से पढ़ा। मुझे यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि यद्यपि सुयोग्य लेखक ने विषय का विवेचन संक्षेप में किया है, किन्तु अध्ययन का दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त ग्रियर्सन तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों के मतों को लेखक ने आंख मीच कर नहीं माना है. बल्कि जहां लेखक सहमत नहीं है वहां उसने परम्परागत मतों की कारण देते हुए समीक्षा की है। यह अवश्य है कि लेखक की समीक्षा विस्तृत नहीं है, किन्तु वह लेखक के मत पर पूर्ण प्रकाश डालती है।

उदाहरण के लिए ग्रियर्सन ने पहाड़ी भाषाओं पर खस का बहुत अधिक प्रभाव माना है, तथा इस मत का भी प्रतिपादन किया है कि पहाड़ी भाषाएं एक प्रकार से मूल खस भाषा पर

राजस्थानी भाषा के प्रभावों के मिश्रण के फलस्वरूप विकसित हुई। डॉ॰ चटर्जी ने ग्रियर्सन के मत का समर्थन किया है। लेखक पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी के पश्चिमी वर्ग की उपभाषाओं के समान शौरसेनी अपभ्रंशों से विकसित मानते हैं। मेरा स्वयं झुकाव प्रारम्भ से लेखक के मत की ओर रहा है। मत स्वातंत्र्य के अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं।

मेरी धारणा हैं कि अब समय आ गया है कि समस्त भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन तैयार किए जाने चाहिएं और इन अध्ययनों के आधार पर भारतवर्ष की भाषाओं की एक नई पूर्ण सर्वे तैयार की जावे। ग्रियर्सन का कार्य अपने समय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और पथप्रदर्शक था। किन्तु दुर्भाग्य से ग्रियर्सन को भाषा विज्ञान की शिक्षा पाए हुए कार्यकर्त्ता उपलब्ध नहीं थे। अब भारतीय विश्वविद्यालयों, लिंग्विस्टिक सोसायटी तथा डेकन कालेज, पूना के सम्मिलित उपयोग के फलस्वरूप इस प्रकार के कार्यकर्त्ता पर्याप्त संख्या में मिल सकते हैं।

अवसर दिए जाने पर डॉ॰ गोविन्द चातक गढ़वाली भाषा की प्रचुर सामग्री के आधार पर इस भाषा का अधिक विस्तृत और पूर्ण अध्ययन सरलता से उपस्थित कर सकते हैं, तथा उनके क्षेत्र की भाषा सर्वे के संचालन में उनके जैसे विशेषज्ञ से बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। मुझे विश्वास है कि भारतीय भाषाओं के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वान् डॉ॰ चातक के प्रस्तुत अध्ययन को अत्यन्त रोचक और उपयोगी पावेंगे।

काशी
दीपावली संवत् २०१६

धीरेंद्र वर्मा

विषय—क्रम

सामान्य परिचय

गढ़वाल

○

§१. पावन सलिला गंगा और यमुना का मातृ—गृह, गिरिराज हिमालय का दिव्य भाल गढ़वाल भारत का एक अन्यतम भू-लोक है। उत्तर में भोट (तिव्बत), पश्चिमोत्तर में हिमाचल प्रदेश, पूर्व और दक्षिण में कुमाऊं और जिला देहरादून से घिरा १०१४५ वर्गमील और १० लाख से अधिक जनसंख्या वाला यह पर्वतीय प्रदेश एक दूसरा ही विहँसता विलखता संसार है। प्राचीन काल में यह भू-भाग उत्तराखण्ड, केदारखण्ड, हिमवंत आदि अनेक नामों से ख्यात रहा है। मध्यकाल में सामन्ती गढ़ों की अधिकता के कारण इसका नाम 'गढ़वाल' पड़ गया जो संभवतः उसे गोरखों से प्राप्त हुआ था।

§२. गढ़वाल वास्तव में वन, पर्वतों और नदियों का प्रदेश है। उसका एक चौथाई भाग वनों और चट्टानों से ढका है। हिमालय की कुछ प्रसिद्ध श्रेणियां गढ़वाल में ही पड़ती हैं। नंदादेवी, त्रिशूल, चौखम्वा, कामेत, गन्धमादन सतोपंथ, नीलकण्ठ, केदारकांठा, बन्दरपूंछ आदि अनेक पर्वत श्रेणियां वहां आकाश की ऊंचाई को नापती दिखाई देती हैं। नदियों की घाटियां गहरी हैं और अनेक स्थलों पर समतल भी। यही विविधता अनेक प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करती मिलती है। कहीं पाताल को जाती हुई घाटियां और कहीं आकाश को चूमती हुई पर्वतमालायें इसी भूमि की विषमता है। उसी प्रकार वहां के वर्फ

से ढके ढालू पर्वत, दूर तक फैले हुए पयार या बुग्याल (चरागाह), मीलों तक फैले चीड़ और देवदारु के सुरम्य वन, उनकी छाया में बसे मनोरम ग्राम, सीढ़ियों की भांति उठते खेत, पर्वत की कटि पर लुढ़कती सी सरिताएं और मेखला सी लिपटी चढ़ती उतरती राहें—ये सब न जाने हिमालय के कितने विराट् सौन्दर्य को अपने में समेटे हैं !

§३. गढ़वाल अपने प्राकृतिक ऐश्वर्य के लिए तो प्रसिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी बहुत प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा भी है। प्रागैतिहासिक काल में गढ़वाल यक्ष, नाग, किरात आदि लोगों से सम्बन्धित रहा है। वहां के लोक गीतों और लोक विश्वासों में इनके विषय में अनेक संदर्भ मिलते हैं। यक्षों को वहां जाख या जग्स कहा जाता है। जाख या जाखनी नाम से आज भी गढ़वाल में कई गांव मिलते हैं। रवाईं में जाख एक देवता माना जाता है। शेष गढ़वाल में यक्ष 'जग्स' नाम से अनिष्टकारिणी शक्ति के रूप में अभिहित हैं। कुबेर यक्षों का सम्राट् था। उसकी राजधानी अलका गढ़वाल की सुप्रसिद्ध नदी अलकनन्दा के मूल पर ही कहीं रही होगी। नागपुर और उरगम पट्टियां विशेषत: नागों से सम्बन्धित थीं। नगेलो, नाग देवता, नागर्जा आदि नामों से आज भी गढ़वाल में नाग-पूजा प्रचलित है और ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिनमें नाग-संघर्ष के आख्यान विद्यमान हैं। कोल, किरात और भील उस युग में बहुत शक्तिशाली थे। ये ही लोग सम्भवत: गढ़वाल के आदिम निवासी रहे होंगे। बाद में खशों और आर्यों के प्रवेश के बाद भी जब वे उनके दास बन गए तब भी इनका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। खशों और आर्यों के सम्पर्क से गढ़वाल में संस्कृति का जो विकास हुआ उसमें इन आदिम निवासियों की संस्कृति के अवशेष पीछे नहीं छूट पाए।

§४. 'केदारे खश मण्डले' उक्ति हमारा ध्यान खशों की ओर आकर्षित करती है। यह स्पष्ट संकेत है कि गढ़वाल में खश प्रर्याप्त संख्या में निवास करते थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने यह माना है कि

खश गढ़वाल में आर्यों से भी पहले प्रवेश कर चुके थे[१]। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि महाभारत काल तक गढ़वाल में आर्यों की छोटी मोटी बस्तियां बस चुकी थीं, पर उनके अनुसार वैदिक काल में यह प्रदेश आर्यों को ज्ञात न था। इस विषय पर मतभेद के लिए बहुत स्थान है। कुछ गढ़वाली विद्वानों—विशेषत: कैप्टेन शूरवीर सिंह और हरिराम धस्माना ने गढ़वाल को ही सप्तसिन्धु प्रदेश सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गढ़वाली सँस्कृति और भाषा में आरम्भिक आर्य संस्कृति के अवशेष विद्यमान हैं। आर्य इस क्षेत्र से परिचित थे यह इसी से सिद्ध है कि कई विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि आर्यों ने भारत में मध्य हिमालय (गढ़वाल, कुमाऊं आदि) से प्रवेश किया। वेदों में गंगा और यमुना के नाम आये हैं। आपत्ति हो सकती है कि वेदों में पंजाब के सौंदर्य का वर्णन है। पर सत्य यह है कि अधिक भाग में बादल, बिजली और पहाड़ों पर घनघोर वर्षा के रुद्र रूप का वर्णन मिलता है। यह वर्णन पंजाब का नहीं, ब्रह्मावर्त प्रदेश का है जहां ऋग्वेद का अधिकांश भाग रचा गया था।[२] ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश या ब्रह्मपुर गढ़वाल का ही प्राचीन नाम था। जनश्रुति यह भी बताती है कि वेद गढ़वाल के वैदिणी क्षेत्र में लिखे गए थे। ऋग्वेद में उत्तरी यमुना के तट पर किसी युद्ध का उल्लेख है। और वहीं दास (आदिम कोल, भील, असुर, नाग किरात, यक्ष) और आर्य संघर्ष के भी दर्शन होने लगते हैं। उसमें दाशराज्ञ अर्थात् दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है, जो सुदास के साथ हुआ था। यह संघर्ष उत्तर पश्चिम के जनों से सम्बन्धित था और इनमें से तीन जन जमुना-तट-वासी कहे गए हैं।[२] इसी प्रकार सुदास का जिस शंबर असुर से मुकाबला हुआ था वह किरातों का राजा था और पर्वत वासी था। शंबर के दुर्ग गढ़वाल और कुमाऊं में ही रहे होंगे। यह[१] राहुल जी भी स्वीकार करते

१ **हिमालय परिचय (१) गढ़वाल, पृ० ५६,६०**

२ **डॉ० मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृष्ट ७०,७१**

हैं। अतः आर्यों और इतर जातियों का यह संघर्ष इस बात का द्योतक है कि आर्य इस क्षेत्र पर बहुत पहले से अधिकार करने लगे थे।

§५. 'केदारे खश मण्डले' उक्ति को लेकर राहुल जी ने केदार-खण्ड को खश देश का पर्याय माना है। किन्तु गढ़वाल की भाषा और संस्कृति खश-देशों के अनुरूप नहीं है। खशों को वहां अनेक जातियों में एक जाति अवश्य स्वीकार किया जा सकता है, पर गढ़वाल को 'खश-मण्डल' कहना अनुचित होगा। सत्य यह है कि गढ़वाल के कुछ क्षेत्रों में खशों की प्रधानता है और उन्हीं क्षेत्रों को संभवतः केदार भूमि के खश मण्डल के रूप में पुकारा जाता रहा होगा। इसलिए खश मण्डल केदार खण्ड के अन्तर्गत कोई मण्डल ही हो सकता है। ऐटकिन्सन ने भी यह स्वीकार किया है कि गढ़वाल के लोगों को खश स्वीकार करना असम्भव है।

§६. गढ़वाल का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं। वैसे कत्यूरी वहाँ का सबसे पहला ऐतिहासिक राजवंश माना जाता है। इस जाति के लोग आज भी वहां अपने को कैंतुरा कहते हैं। ८५० ई० के आस-पास कत्यूरियों ने अपना राज्य हिमालय में स्थापित कर दिया था। ऐटकिन्सन ने कत्यूरियों का सम्बन्ध काबुल के कटोर वंश से जोड़ने का प्रयास किया है किन्तु राहुल जी ने उन्हें शकों की कुषाण शाखा के अन्तर्गत माना है।[1] कत्यूरियों के सम्बन्ध में एक विचित्र तथ्य यह भी है कि उनके ताम्रपत्र और लेख अपनी शैली में बंगाल के पाल वंशीय राजाओं के शिला लेखों से बहुत मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाल और कत्यूरी लोग किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बन्धित थे।

§७. कत्यूरियों का शासन १०१५ ई० तक रहा। उसके बाद भी अनेक जातियों के प्रवेश का तारतम्य बना रहा। फिर एक लम्बे समय (११९० ई० से १४०० ई०) तक की अराजकता के बाद गढ़वाल

---

१ राहुल : हिमालय परिचय पृ० ०२

में पंवार वंश की स्थापना हुई। पँवार लोग सम्भवत: गुर्जर थे। गुर्जरों ने ५ वीं शती में भारत में प्रवेश किया और नवीं शती तक उनके छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे। ग्रियर्सन की स्थापना है कि गुर्जर हिमालय की तराई से होकर गढ़वाल में फैले और फिर राजस्थान जाकर गढ़वाल में चले आये।[1] इस कथन पर हम आगे विचार करेंगे। यहां राजस्थान और गढ़वाल के सम्बन्धों को स्वीकार करना ही प्रयाप्त होगा। गढ़वाल में कनकपाल के इस गुर्जर वंश की स्थापना ९ वीं शती में हो चुकी थी और फिर वहां अन्त तक पँवार वंश का ही शासन रहा।

§८. इस प्रदेश पर मुसलमानों का आधिपत्य नहीं रहा; पर वे इससे अपरिचित नहीं थे। १६५९ ई० में दाराशिकोह का पुत्र सुलेमान शिकोह औरंगजेब के कोप से बचने के लिए गढ़वाल के राजा की शरण में श्रीनगर आया था। गढ़वाल की बाहरी सीमा पर मुगलों ने सम्भवत: आक्रमण भी किए थे। रवाईं जौनपुर और जौनसार में मुगल आक्रमण के गीत मिलते हैं। यह आक्रमण सम्भवत: शाहजहां ने किया था और उस समय गढ़वाल पर महाराज फतेहशाह राज्य करते थे।

§९. गढ़वाल के इतिहास में दूसरी सबसे बड़ी घटना गोरखा आक्रमण के रूप में घटी। १९०३ ई० में नेपाली सेना ने गढ़वाल की ओर अभियान किया। गढ़वाल के तत्कालीन नरेश प्रद्युम्नशाह ने उनका मुकाबला किया, किन्तु १८०४ ई० में देहरादून के खुड़बुड़ा नामक स्थान पर लड़ते हुए उनका प्राणांत हो गया। १८०४ ई० में गढ़वाल गोरखों के हाथ में चला गया। अंग्रेजों ने गोरखों की बढ़ती शक्ति का सामना किया और १८१५ ई० में गढ़वाल को उनसे मुक्त कराकर आधा भाग अपने लिए रख लिया। फलत: पौड़ी गढ़वाल अंग्रेजों के अधिकार में आ गया और टिहरी गढ़वाल पँवार वंश के अधिकार में ही रहा।

---

१ लिं० स० ऑव इंडिया, जिल्द ९, भाग ४

अब ये दोनों प्रदेश गणतन्त्र के पश्चात् उत्तर-प्रदेश के दो जिले बन गए हैं।

§१०. गढ़वाल की ऐतिहासिक परिस्थितियों का वहां की भाषा पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। आगे के पृष्ठों में गढ़वाली भाषा का विवेचन करते हुए हम इस पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या कर सकेंगे। वास्तव में गढ़वाल एक प्रदेश या प्रादेशिक इकाई नहीं है—यह भारत का सूक्ष्म रूप है। इसकी भाषा और संस्कृति में कोल, भील, किरात, यक्ष, खश, द्रविड़ हूण, शक, गुर्जर, नाग, आर्य आदि अनेक जातियां समाई हुई हैं और राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, बंगाल जैसे सुदूर प्रदेशों से भी यह आश्चर्यजनक निकटता निभाए हुए हैं। इस प्रकार गढ़वाल की भाषा और संस्कृति के ऊपर एक के बाद एक तहें और परतें हैं, जिन्हें इतिहास जमा करता गया है।

गढ़वाली बोली

○

§११. गढ़वाल जनपद की बोली गढ़वाली कहलाती है। गढ़वाली मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत आती है। ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषाओं का विभाजन करते हुए मध्य पहाड़ी की स्थिति भीतरी उपशाखा में निर्धारित की है।[१] बाद में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की स्थापना से मतभेद प्रकट करते हुए भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण बहुत कुछ अपने ढंग से अवश्य किया पर पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी सूझ ग्रियर्सन से आगे नहीं बढ़ी। उन्होंने भी उन्हें दरद अथवा खश प्राकृत से सम्बन्धित बताकर और मध्यकाल में उन पर राजस्थान की प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव घोषित कर अपने वक्तव्य की इति श्री कर दी।[२] तब से हिन्दी में यह परम्परा वद्ध-मूल सी वर्षों से विद्वानों के बीच निभाई जा रही है।

ग्रियर्सन के वर्गीकरण का आधार हार्नले की स्थापनाएं थीं।[३] आधुनिक आर्य भाषाओं के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि आर्य भारत में कम से कम दो बार आये और नवागत आर्यों के आने के कारण पूर्वागत आर्यों को पूर्व दक्षिण और पश्चिम में

---

१ **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, अ० ११, पृ० १२०**

२ **ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, पृ० ६**

३ **ईस्टर्न हिन्दी ग्रैमर, भूमिका, पृ० ३२**

फैलना पड़ा। ग्रियर्सन ने इसी सिद्धान्त का उपयोग करते हुए अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। डॉ० चाटुर्ज्या का वर्गीकरण भौगोलिक है और वे बाहरी और भीतरी उपशाखा वाले विचार का समर्थन नहीं करते। किन्तु स्वयं डॉ० चाटुर्ज्या भी इस बात को मानते हैं कि भारत में आर्यों की अनेक शाखायें प्रवेश करती रहीं और प्रत्येक शाखा की बोली की अपनी विशेषताएं थीं।[1] ग्रियर्सन की धारणा एक दम अविचारणीय नहीं है। गढ़वाल के कुछ विद्वानों ने भी इस ओर संकेत किया है कि आर्यों के एक दल ने गढ़वाल से होकर प्रवेश किया था और उन्होंने वहां अपनी बस्तियां भी बसाई थीं। ये तथ्य भाषा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण ठहरते हैं।

§१२. दूसरी बात पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी एक और विचित्र धारणा से सम्बन्धित है। वे पहाड़ी भाषाओं को अपने वर्गीकरण में उदीच्या, प्रतीच्या, मध्यदेशीया, दक्षिणात्या और प्राच्या में कहीं भी स्थान नहीं देते। केवल अलग से उनका मूलाधार दरद पैशाची या खश उल्लेख कर उसे राजस्थानी की ही एक शाखा बताकर एकाध पंक्ति में ही अपना निर्णय दे डालते हैं। यही नहीं, वे गुर्जरों की भाषा को भी, जिसने राजस्थानी और गुजराती को प्रभावित किया (और जिसने उनके अनुसार बाद में गढ़वाली को भी प्रभावित किया) संदेह की दृष्टि से दरद ही मानते हैं।

यह स्थापना वास्तव में इस भ्रान्ति पर आधारित है कि गढ़वाल के निवासी खश थे। खशों को दरद माना जाता है और प्रागैतिहासिक काल में वे हिमालय के उन भागों में बहुत प्रभावशाली रहे हैं जहां की भाषा आज काश्मीरी, लहन्दा, शीणा, कोहिस्तानी आदि है। हिन्दुकुश और भारतीय सीमान्त का भाग दरदिस्तान कहलाता था और वहां के निवासियों को पिशाच कहते थे। पैशाची और दरद भाषाओं को लेकर

---

१ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६३

यदि गढ़वाली बोली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्टत: साम्य के बहुत कम आधार मिलेंगे । दरद मूल की बात तो दूर रही दरद प्रभाव भी गढ़वाली पर उस मात्रा में नहीं है, जिस में वह उदीच्या पर विद्यमान है । हिमालय में ज्यों-ज्यों हम पूर्व की ओर चले जाते हैं, यह प्रभाव कम दिखाई देता है । इस सत्य को ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है और सम्भवत: डॉ० चाटुर्ज्या भी करेंगे । वास्तव में काश्मीर का निकटवर्ती क्षेत्र ही दरद भाषा का केन्द्र है, मध्य पहाड़ी और नेपाली उससे बहुत कम प्रभावित हुई है । दरद भाषाओं की ध्वन्यात्मक विशेषताएं उनमें नहीं प्राप्त होतीं । हां, पश्चिमी पहाड़ी पर अवश्य दरद प्रभाव है ।

खशों का प्रसार हिमालय में हिन्दुकुश से नेपाल तक था । इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । किन्तु मध्य और पूर्वी हिमालय में वे उतने प्रभावशाली नहीं रहे जितने कि पश्चिम में (§४,५) । यदि सभी पहाड़ी भाषाओं का मूल दरद या खश ही होता तो उनमें बहुत बड़ी समानता होती । ठीक इसके विपरीत काश्मीरी आदि दरद भाषाएं मध्य पहाड़ी से बिल्कुल पृथक अस्तित्व प्रकट करती हैं ।

मध्य पहाड़ी के मूल के लिए अलग से एक प्राकृत की कल्पना भी भ्रामक है । ऐसा कोई नाम प्राचीन भाषा-ग्रन्थों में नहीं मिलता । उत्तर में बोली जाने वाली भाषाओं में पैशाची अथवा चूलिका पैशाची नाम आए हैं । मार्कण्डेय ने पैशाची बोलियों के तीन विभेद गिनाए हैं—कैकेय, शौरसेन और पांचाल । उसके अनुसार शौरसेन पैशाची शौरसेनी पर आधारित थी।[1] मध्य पहाड़ी भाषाएं वैयाकरणों द्वारा वर्णित चूलिका पैशाची या पैशाची के लक्षणों से मेल नहीं खातीं। वह शौरसेनी के निकट ठहरती हैं और जैसा कि ऊपर मार्कण्डेय का कथन है, यदि कोई शौरसेन पैशाची थी जिसका आधार शौरसेनी थी तो पहाड़ी बोलियों की जननी

१ डॉ० पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ५४

भी उसी तरह की कोई प्राकृत रही होगी। किन्तु उसके आज कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि शौरसेन पैशाची के समान ही शौरसेनी का कोई और उत्तरी रूप भी रहा होगा। वास्तव में मध्य पहाड़ी भाषाओं का उद्गम कोई खश या दरद प्राकृत नहीं है। वे सीधी शौरसेनी से सम्बन्धित रही हैं। स्वयं ग्रियर्सन ने भी, जिनके सामने सदा खश और दरद थे, मध्य पहाड़ी के सम्बन्ध में लिखते हुए इस सत्य को स्वीकार किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत आधुनिक आर्य भाषाओं की स्थिति—निर्देशक—पट इस बात का प्रमाण है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से निर्धारित किया है।[1] यही नहीं उन्होंने व्रजभाषा का अध्ययन करते हुए मध्य पहाड़ी के साथ उसके साम्य के अनेक उल्लेख किए हैं।[2] डॉ० उदय नारायण तिवारी ने भी उसे, शौरसेनी प्रसूत माना है।[3]

पर ये स्वीकृतियाँ इतने धीमे स्वर में व्यक्त की गईं हैं कि डॉ० चाटुर्ज्या द्वारा उत्पन्न भ्रांति ज्यों की त्यों बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खश और दरद भी आर्य थे। उनकी भाषा भी आर्यों से मिलती जुलती रही होगी, किन्तु भारत में उस भाषा ने पश्चिमोत्तर में जो रूप धारण किया उसका मध्य पहाड़ी से कोई साम्य नहीं। वैसे खश या दरद लोग पंजाब और बंगाल तक भी फैले, पर पंजाबी और और बंगला दरद भाषायें नहीं हैं। उसी प्रकार चाहे मध्य पहाड़ी क्षेत्र के लोगों को हम हठपूर्वक खश ही मानें, किन्तु उनकी भाषा खश या दरद कदापि न थी। वह शौरसेनी की ही कोई उपभाषा थी, जिसका प्रसार पहाड़ों तक था।

§१३. उत्तर भारत की सभी भाषाओं और बोलियों का उद्गम

---

१ **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४८**

२ **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : व्रजभाषा**

३ **डॉ० उ० ना० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० १७१**

स्थल मध्यदेश ही है। इस भू-भाग की सीमा का विकास यद्यपि बाद में बढ़ गया, किन्तु प्रारम्भ में केवल कुरु पांचाल और हिमालय प्रदेश के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता था।[१] यह प्रदेश अपनी भाषा के लिए सर्वोत्तम माना जाता था। समय की गति के साथ यहां की भाषा ने वैदिक, छांदस, संस्कृत पाली, शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई रूप ग्रहण किए। १० वीं अथवा ११ वीं शती में जाकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं विकास में आईं। मध्य पहाड़ी का विकास भी इसी क्रम में हुआ है। उसका उद्‌भव कोई आकस्मिक स्फोट नहीं है, वरन् वैदिक भाषा से शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी परम्परा उसमें समाहित है।

पीछे (§४) कहा जा चुका है कि वैदिक आर्य गढ़वाल से अपरिचित न थे। यह प्रदेश सदा से ऋषि-मुनियों की दृष्टि में रहता आया है। जनश्रुतियों और लोक विश्वासों के आधार पर ऐसे अनेक तपोधनों के नाम गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने तपस्या के लिए इस क्षेत्र को चुना था। महाभारत और पुराण ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। बौद्धकाल में चुल्ल हिमवन्त ख्यात प्रदेशों में से था और बौद्धों का उस पर कम प्रभाव न था। वस्तुतः प्राचीन आर्य भाषा से गढ़वाल का सम्बन्धित होना कोई अस्वाभाविक और आश्चर्यजनक तथ्य नहीं है। आज भी गढ़वाली बोली में अनेक ऐसे शब्द उपलब्ध हैं जो वैदिक हैं और जिनका प्रयोग हिन्दी अथवा भारत की किसी अन्य भाषा में प्रचलित नहीं है। वास्तव में उत्तर की भाषा संस्कृत के बहुत निकट थी और बहुत बाद तक वह उस परम्परा को निभाती रही।

मध्यकालीन आर्यभाषा काल में जब अनेक उप---भाषाओं का विकास हुआ, तब पहाड़ों में उसका कौन सा रूप विद्यमान था यह

---

१ **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ०**

बताने के लिए प्रयाप्त सामग्री उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि प्राकृत भाषाएं जिस घनिष्ठता के साथ वैदिक बोलियों से सम्बन्धित रहीं, उसी सम्बन्ध का निर्वाह उन्होंने अपभ्रंश और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साथ भी किया है। यद्यपि प्राकृत भाषा के मूल में संस्कृत के समान और बोलियां भी रही हैं; फिर भी संस्कृत का दाय प्राकृत भाषाओं को ही मिला और प्राकृत का उसकी परवर्ती भाषाओं को। गढ़वाली बोली में भी प्राकृत का दाय बहुत स्पष्ट है। शब्द, ध्वनि, रूप परिवर्तन, क्रियारूपों आदि में उसे आज भी पहिचाना जा सकता है।

सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की भांति अपभ्रंश गढ़वाली की जननी हैं। छठी शताब्दी के बाद मध्यकालीन भाषा विकास के तृतीय चरण में अपभ्रंशों का उदय माना जाता है। अपभ्रंशों में केवल शौरसेनी अपभ्रंश की ही प्रयाप्त सामग्री उपलब्ध है। इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलने वाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उद्गम के सम्बन्ध में विचार करना सरल नहीं है। किन्तु गढ़वाल के सम्बन्ध में यह कठिनाई नहीं है। भरत मुनि के कथन के अनुसार हिमवत्, सिंधु और सौवीर में 'उकार बहुला भाषा' का प्रयोग होता था।[1] विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि यह उकार-बहुला भाषा अपभ्रंश थी। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमवत्-सिन्धु-सौवीर प्रदेश ही आरम्भिक अपभ्रंश का क्षेत्र था। डा० नामवरसिंह की स्थापना के अनुसार तीसरी शताब्दी में जो पश्चिमोत्तर की बोली थी, वही क्रमशः विकसित होती हुई मध्य देश और पश्चिमी भारत तक फैल गई।[2] इस तथ्य का समर्थन इस प्रकार किया जाता था कि अपभ्रंश को **आभीरादि गिरा** अथवा **नागवाणी** कहा गया है। नाग जाति के लोग हिमालय में बड़े प्रभाव-

---

१ **हिमवत्सिन्धु सौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः ।**
उकार बहुलां तेषु नित्यं भाषा प्रयोजयेत् ॥ (नाट्यशास्त्रम्)

२ **नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २५**

शाली रहे हैं । आभीर जाति का प्रसार समस्त उत्तर भारत में महत्वपूर्ण रहा है । आभीरादि में शक और गुर्जर भी अवश्य सम्मिलित रहे होंगे । इन्हीं आभीरादि के प्रसार के साथ आरम्भिक अपभ्रंश का भी प्रसार हुआ है । आभीर लोग उत्तर पश्चिम से आकर मध्यदेश में पहुंचे और फिर वहां से इधर उधर बिखरे ।[1] उसी प्रकार गुर्जर भी उत्तर से ही आये थे ।[2] इन सब विदेशी जातियों ने अपभ्रंश को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया । ऐसी परिस्थिति में इन जातियों के प्रसार के साथ अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत में हो गया । उस समय प्रचलित अपभ्रंश के कुछ भेदों का पता चलता है, किन्तु वास्तव में तब विभिन्न जनपदों की भाषा में कोई मौलिक व्याकरणिक भेद न रहा होगा ।[3] यह तथ्य व्याकरणकारों द्वारा दिए गए 'शेषं शौरसेनीवत्' लक्षणों से पुष्ट होता है । इसीलिए यह मानना होगा कि शौरसेनी अपभ्रंश केवल शूरसेन प्रदेश की भाषा थी, असंगत है । वास्तव में मागधी. महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि भौगोलिक वर्गीकरण ठीक नहीं बैठते हैं । उदाहरण के लिए महाराष्ट्री के सम्वन्ध में डॉ० मनमोहन घोष के अनुसंधान की ओर संकेत किया जा सकता है । अगर शौरसेनी महाराष्ट्र तक फैल सकती है तो उसके किसी रूप का अस्तित्व हिमालय में भी हो सकता है ।

गढ़वाली आज भी उकार-बहुला लोक-भाषा है । नागों, शकों, गुर्जरों और आभीरों से गढ़वाल प्रदेश का ऐतिहासिक सम्वन्ध रहा है । इन आधारों और भरत मुनि के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि गढ़वाल में अपभ्रंश ही बोली जाती रही होगी । वह अपभ्रंश ब्राचड़ या पैशाची रही होगी, यह स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि एक तो इसका साहित्य उपलब्ध नहीं, दूसरी बात यह है कि व्याकरणकारों ने इनके

---

१ **डॉ० शिवप्रसादसिंह : सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य पृ० ४७**

२ **डॉ० ग्रियर्सन : लि० स० इं०, जिल्द ६, भाग २**

३ **डॉ० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ३०**

जो लक्षण दिए हैं वे गढ़वाली बोली की ध्वनि और रूप तत्वों से मेल नहीं खाते । गढ़वाली का अगर किसी से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है तो वह शौरसेनी अपभ्रंश से । वस्तुतः इसी शौरसेनी अपभ्रंश का कोई रूप पहाड़ों में प्रचलित रहा होगा । आधुनिक गढ़वाली उससे किस रूप में सम्बन्धित है, इस विचार की पुष्टि आगे सम्भव है ।

§१४. डॉ० चाटुर्ज्या की खश या दरद मूल की कल्पना इन्हीं आधारों पर अमान्य है । अब उनका और डॉ० ग्रियर्सन का यह कथन भी विचारणीय है कि गढ़वाली राजस्थानी से प्रभावित है । ग्रियर्सन का कथन है कि गुर्जरों ने सपादलक्ष (गढ़वाल) से भारत के अन्तर्वेद में प्रवेश किया और वहां से राजस्थान जाकर वे फिर गढ़वाल में आए । इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठते हैं—राजस्थान से वे गढ़वाल क्यों लौट आए ? यदि मुसलमानों के भय से पहाड़ों में चले आए तो क्या वे इतनी बड़ी संख्या में आए थे कि किसी प्रदेश की भाषा को प्रभावित कर सकें ? वास्तव में गढ़वाली और राजस्थानी के साम्य का कारण इस प्रकार राजपूतों का गढ़वाल भाग आना नहीं है । इस साम्य के कारण गुर्जर थे । स्वयं विन्सेंट स्मिथ ने भी स्वीकार किया है कि राजपूताना के राजपूत और हिमालय के लोग अपने रक्त में समान हैं ।[1] पर स्मिथ यह भी कहते हैं कि गुर्जर (राजपूत, पँवार, सोलंकी, चौहान, प्रतिहार) ९ वीं, १० वीं शताब्दी में फिर हिमालय में फैल गए । इस प्रसार का जो कारण वे देते हैं वह थोथा और असंगत लगता है ।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि राजस्थान और गढ़वाल के लोगों में गुर्जरों, शकों, आदि के कारण कुछ समानता रही है । इस समानता के कारण बाहर से आए हुए ये ही लोग थे जो हिमालय में प्रचलित भाषा को साथ लेकर गए। इस दृष्टि से अगर प्रभाव की बात कुछ अर्थ रखती है तो गढ़वाली बोली ने ही राजस्थानी को प्रभावित किया है।

---

१ उद्धरण, लिं० स० इ०, जिल्द ९, भाग ४, पृ० ११

अतः हमें डॉ० भंडारकर का कथन सत्य के अधिक निकट लगता है, जिसमें उन्होंने पूर्वी राजस्थानी को पहाड़ी हिन्दी में उद्भूत माना है।[1] स्वयं ग्रियर्सन भी गढ़वाली को राजस्थानी की एक शाखा कहने का मोह न छोड़कर भी, यह कहने को बाध्य हुए कि गढ़वाली अन्य पहाड़ी भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।

इस सम्बन्ध में टर्नर[2] के विचार बहुत ही सुलझे हुए हैं। पूर्वी पहाड़ी के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने नेपाली को उसके मूल के लिए गुजराती. सिंधी, लहन्दा, पंजाबी और हिन्दी के साथ सम्बद्ध किया है। ग्रियर्सन द्वारा प्रतिपादित राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं के साम्य को उन्होंने प्रभाव रूप में नहीं स्वीकार किया; वरन् उसका आधार उद्गम के उभयनिष्ठ पक्ष को घोषित किया है।

यह सत्य है कि गढ़वाली और राजस्थानी में कुछ साम्य हैं। किन्तु यह साम्य बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के जिए छ क्रिया को लिया जा सकता है। यह क्रिया राजस्थानी के अतिरिक्त दरद, बंगला और कई पूर्वी बोलियों में भी मिलती है। उसी प्रकार भूत और भविष्यत् काल का ला प्रत्यय मध्य पहाड़ी और राजस्थानी के अतिरिक्त भोजपुरी, बंगला, असमी. उड़िया, मैथिली, मराठी, गुजराती में भी उपलब्ध है। सम्बन्ध कारक के रा, रू री, प्रत्यय गढ़वाली की रवाँल्टी बोली में अभी सुरक्षित हैं; किन्तु वे राजस्थानी में ही नहीं बंगला में भी मिलते हैं। न का ण हो जाना केवल गढ़वाली और राजस्थानी में ही सम्भव नहीं, अन्य भाषाओं में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। गढ़वाली की ळ ध्वनि राजस्थानी के समान अन्यत्र भी मिलती है। स का ह में परिवर्तन गढ़वाल के एक क्षेत्र विशेष में प्रचलित है किन्तु यही बात पूर्वी बंगला, सिन्धी, पंजाबी, लहंदा, असमी, मराठी और पछाँही हिन्दी में भी है।

---

१ उद्धरण देखिये, लिं० स० इं०, जिल्द ९, भाग ४, पृ० १२

२ नेपाली डिक्सनरी, भूमिका, पृ० १

वास्तव में राजस्थानी का उद्गम जिस शौरसेनी अपभ्रंश में खोजा जाता है, वही मध्य पहाड़ी का स्रोत भी है। दूसरी बात यह है कि हूण, शक, गुर्जर आदि लोगों के सहवास और प्रसार ने इन क्षेत्रों की भाषा को कुछ समानता दी है। मेरा तो यह भी विश्वास है कि छ और ला वर्गीय भाषाएं किसी समय अपने मूल में एक रही हैं अथवा वे किसी स्तर पर एक ही जाति के लोगों और उनके प्रसार से सम्बन्धित रही हैं। गढ़वाली बोली केवल राजस्थानी से ही साम्य नहीं प्रकट करती वरन् वह गुजराती, मराठी, अवधी भोजपुरी, बंगला आदि से भी मेल खाती है। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण विद्यमान हैं। गढ़वाली पर मागधी प्रभाव भी कम नहीं है। यही कारण है कि मध्य पहाड़ी एक ओर राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि से और दूसरी ओर हिन्दी और उसकी बोलियों से निकट का सम्बन्ध रखती है।

§१५. इसी संदर्भ में गढ़वाली और हिन्दी के पारस्परिक सम्बन्ध की बात भी विचारणीय है। हिन्दी के विद्वान् पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की बोलियों में नहीं गिनते हैं। वास्तव में गढ़वाली हिन्दी समूह की बोलियों में आती हैं। वर्षों पहले केलॉग ने इस तथ्य को स्वीकार किया था।[1] यही नहीं जैसा कि पीछे (§१४) कहा जा चुका है, ग्रियर्सन ने भी गढ़वाली को हिन्दी के निकट माना है।[2] आज भी कुछ विद्वान् ऐसी धारणा रखते हैं; किन्तु खेद है कि पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें एक पिटी-पिटाई परम्परा का निर्वाह करती जा रही हैं।

---

१ केलॉग : ए ग्रैमर ऑव हिन्दी, लैंग्वेज पृ० ६६

२ लि० स० इं०, जिल्द ६, भाग ४, पृ० ३८१

शब्द कोष

○

§१६. यह सभी बोलियों और भाषाओं के लिए सत्य है कि उनमें शब्द कई द्वारों से प्रवेश करते हैं। जहां तक गढ़वाली बोली का सम्बन्ध है, उसके लिए यह कथन और भी सार्थक है, क्योंकि गढ़वाल में अनेक जातियों का आवास रहा है, जिन्होंने समय-समय पर प्रवेश कर गढ़वाली को अपना शब्द समूह प्रदान किया। राजनैतिक संपर्क ने भी कुछ नए शब्द प्रदान किए। यह भी एक सामान्य तथ्य है कि प्रत्येक क्षेत्र के अपने ऐसे शब्द भी होते हैं, जिनका प्रयोग वहीं तक सीमित होता है। इसके अतिरिक्त ऐसी कोई आधुनिक आर्य भाषा नहीं है, जिसका शब्द समूह संस्कृत से न निर्मित हुआ हो। इस दृष्टि से गढ़वाली बोली का शब्द समूह निम्नलिखित स्रोतों से सम्बन्धित हैं और उसका स्थूल विभाजन इस प्रकार संभव है :

१. संस्कृत के तत्सम शब्द
२. संस्कृत के तद्भव शब्द
३. अनार्य भाषाओं के शब्द
४. आधुनिक बोलियों से उधार लिए हुए शब्द
५. देशज शब्द
६. विदेशी शब्द

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त इन शब्दों को गढ़वाली बोली ने अपनी ध्वनि और रूप तत्व के अनुकूल इस प्रकार पचा लिया है कि वे अब

उसी के बन गए हैं। संस्कृत, अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्द इस प्रकार गढ़वाली की प्रकृति में ढले मिलते हैं कि वे विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। यहां तक कि कई संस्कृत शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन ही नहीं हुए वरन् उनमें अर्थ परिवर्तन के भी मनोरंजक दृष्टान्त मिलते हैं। उदाहरण के लिए **माया, कल्याण**, **मित्र, तस्कर**, **क्रिया, घात, सट्ठ**(शठ), **अपर्याद** (अपराध) **निखिद्द** (निषिद्ध), **मैंस, मण्स** (मनुष्य) **पोथलू** (पुत्र+ल) **करतब** (कर्तव्य), **चरित्र** (चरेत्र), **दारिका** (दारी) **गंगण** (गगन), **कौथीक** (कौतुक) **घीण**(घृणा), **छंल**(छविल), **सोरो** (सहोदर) **वंठ्या** (वंध्या), **परवंस** (परमहंस), **कुरोध**(क्रोध), **निचन्त**(निश्चिन्त), **घट्ट**, आदि शब्दों को लिया जा सकता है। रवांल्टी में **घ ण** का अर्थ दया होता है। संभवतः आरम्भिक संस्कृत में इसका यही अर्थ था। इसी प्रकार कई अरबी–फारसी शब्द भी अपने परिवर्तित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

§१७. तत्सम और अर्ध तत्सम शब्द

गढ़वाली बोली में तत्सम शब्दों का आधिक्य नहीं है। उसका कारण ध्वनि सौकर्य की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। फिर भी कुछ शब्द ज्यों त्यों के मिलते हैं :

असुख, अन्न, अस्त, अर्थ, अंगीकार, अवस्था, अमर, अवश्य, अत्याचार, अति, अंगार, अंधकार, असुर, (असूर), आशा, आज्ञा, आतुर, आदर, आनन्द, आधार, आचार, आश्रम, आयु, आत्मा, आकाश, आपत्ति; इष्ट, इच्छा, इति, ईर्ष्या, उद्धार, उरग (गुरौ), उत्पात, उदय, उत्तम; ऋतु, ऋण, एकान्त।

कति, कर्म, कन्या, कथा, कृपा, क्रिया, कंठ, कष्ट, कुंडल, कथा, करण, कंकण, कमल, काया, काल, कुंड, कपट, कल्याण, कुल, क्वाथ, कोण, कुशल, कृपाण, कुक्कुर; खण्ड, गंध, गुण, गीत, गोत्र, गर्भ, गौ, गुप्त, ग्रास, (गास), ग्राम, गते, गति, गंगा, घात।

चिता, चरण, चंचल, चिंता, चूर्ण, चित, छंद, छाया, छत्र, छवि, जन्त, (जन्तु) जन, जटा, जातक, जार, जग।

तस्कर, तल, तन, तप, तरुण, तीर्थ, तृण, त्रास; दुःख, देश, दुष्ट, दशा, द्वार, दोष, दाता, दिन, दर्शन, दया, देह, द्वि, दान, दास, दिशा, द्यौ, दैव; धन, धार, धर्म, धातु, ध्यान, धरती; नष्ट नाश, विनाश (विणास), नित्य, नीति नगरी, न्याय, नर नाम निद्रा, नाग।

प्रतीति, प्रकाश (परगास), पशु प्रताप, पाखंड पर्वत, पितृ, पंथ, पुण्य, प्रसाद, प्रेत, प्रयाण, पूजा, पाप पातक, पंजर; फल, फेन, भांड, भुजा, भाग, भोग भेद, भाग्य, भाषा, भ्रष्ट, भाव, भार, भित्ति; मन मान मांस, माता, मगल, मंद, मध्यम मन्त्र मति मुनि, मूर्च्छा, मग्न, मौन, मृत्यु, मुख, मुंड, माया, मण्डप माला, मूर्ति, मण्डल, मात्रा, मित्र, मूल, मुकुट, मन्दिर।

रोष, रेख, रोग, रुचि, रोम, रास, रथ, रग, रण, राशि, रूप, राग; लेख, लीला, लग्न, लालसा, लोक; लेश लम्पट; वन, वर, वज्र, व्यथा, व्यर्थ, वश वंश, वाचाल, वास्तूक विद्या, वीर, वासना (वासिना), विना, व्याह, विपत्ति, व्यसन वेदना, वर्षा, वाणी, विष, वलि, वचन, विचार, व्यंजन, वाधा ब्रत, वस्त (वस्तु), वायु, वेश, वात वेला, वार्ता, वाक् वाच् वैकुण्ठ; शोच शाला, शक्ति, शीत, शील, शरण, शूल शीश, श्रद्धा, शंख, श्यालो, शान्ति, शोभा, शिर, शेष; सत्कार सरल संताप, सागर, सध्य, सभा, स्तुति, स्नान, समर्थ, सत्य, साहस सिद्ध, शोभन्; सुन्दर, सार, संध्या, संग, स्वयं, संदेह समय, सुधार, संसार, सर्प, स्वामी, सेवा, समाचार, हार, हवन, हत्या, ज्ञान।

§१८. तद्भव शब्द

वास्तव में तत्सम और अर्ध तत्सम शब्दों की अपेक्षा गढ़वाली में तद्भव शब्दों की संख्या ही अधिक है। आगे के ध्वनि विचार संबन्धी अध्यायों में तद्भव शब्दों की विस्तृत सामग्री उपयोग में लाई गई है। यहां

केवल कुछ ऐसे तद्भव शब्द दिए जाते हैं जिनका उल्लेख आगे के पृष्ठों में नहीं हुआ है।

अन्यत्र>अण्थ, अंकुर>अंगरो, अरण्य>आरुणी, रण (वण), अग्रे>आग्गे, अग्निस्कन्ध>औंधो, अक्षोट>अखोड़, अमित>अमिथ्या, अहर्गण>हरगण, अनुहार>अन्वार, अर्गला>आगळ, अवस्तृत>थाड़, अस्ति>आथि, अंकमाल>अंग्वाळ, अपुत्रक>औतो, आंचल>ऐंचळू, अनशन>अन्नशन्न, अधः>उदो, अभ्रातरा>पातर, अट्टालिका>अटाळी आर्द्र>आद, आलो; आर्त्तव>बात, आर्या>इजा, जिया, जी; आख्यान> औंखाणों, आवर्त>औत, आवास>वास, इक्ष>इख, ईषत्>इसी, ईषत्+ईषत्>इसीसि, उत्तान>उताणू, उल्लंघन>अलखण, उनिद्र> उणदो, उर्ध्व>उब्बो, उत्केर>उकेर, उच्छ्वास>उकसासी।

कवल>कूळू, कारुण्य>कारणा; कीलक>कीलो, कुंडल>कुंडाळो, कुल्या>कूल; कृषाण>किसाण; केलि>कौळी; क्रोड़>कोळ; कल्याहार> कल्यार; कुंचिका>कूंजी; कुहेलिका>कुरेड़ी; कोलाहल>खौळ, को जानाति>कुजाणी, कुंठित>खुंडो, कृत्ति>कतड़ा, कल्यवर्त>कलेऊ, काष्ठक>काठगो कुटी>कूड़ी, कर्णद्वार>कंदूड़, कठमाला>कंठयाळो, कोष्ठागार>कोठार, कनीयस>काणसो; कुक्कट>कुखड़ो, कोद्रव>कोदो; कुक्षि>कोख, कर्णाधार>धुनार; कुंतल>कौंल, कुब्जक>कूँगो; कक्ष> काख; खिल्य>खील, खुरसाण>खुरसाणी, खलस्थान>खल्याण, गोष्ठ> गोठ; गर्भरूप>गबरू, गुरुक>गरो; गो रूप>गोरू; गो विष्टक> ग्वींडो, गोस्वामी>गोस्यूं; गोपाल>ग्वालो ग्वैर; गुल्मिनी>लगुली; गर्जर>गजार, गर्गर>गागर; ग्राहक>गैख; घूक>घुगू, घुंटक>घुंडो, घर्धरी>घागरी;

चत्वारिका>चौरी; चतुष्क>चौक; चोक्ष>चोखू, चीनक>चीणा चिरातिक्त>चिरैतू, छत्वर>छप्पर; छाद्य>छाजो; ज्वाला>झौंळ, जनाः>झणा; जीवन>ज्यूणो, जीव>ज्यू, जाल्हु, जाड्य>जाडो; जंभीर>जैमर।

तुम्बक>तोमड़ो, तप्त>तातो, ताप>तौ, तिथि>तीथ, तृषा> तीस, दुग्धल>दुदलो, दात्रिका>दाथी, दर्भ>दाबो, दाड़िम>दाळिमो, द्रोण>दोण, द्वंद>धंदो, दुहिता>ध्याण, धरणी>धन्नी, धान्यकृत> धनकूर; न तर्हि>नितर, न्यष्ट>नाटो, नास्ति>न्हाति, निमित्त>निब्त, नवनीत>नौण, नीवी>न्यूं, नग्निका; नन्दनी>नौनी, नवान्न>नवाण, नगर>नैल, नारो। नकुली,नुपूर>न्यूरी, निम्बुक>निमौ, नेष्ट>नेष्टी।

प्रवाल>पौळा, प्रस्थ>पाथो, प्रा+कृत>पैतो, प्रकृति>पोकी, पिन्यक>पीना, प्राघुर्ण>पौणो, पुटक>पुड़खो, प्रणाली>पंडाली, परश्व>परसे, पद्म>पैय्यां, परारि>परार, पूर्व>पोर, पलाल>पराळ, प्रकोष्ठ>पाखड़ो, पत्रक>पातगो; पक्ष>पाखो, प्रदेशन>पैणो; पदत्राण पैंत्र्वाण, प्राकार>पगार, पर्यंक>पारी, पश्चरात्रि>पशरात, पाश>फांसु पिंड>पींडो भव्यवेला>भोळ, भूमि>भुईं, भृत्य>भुर्त्या, भक्त>भात; भ्रातृ वधू>भौ, बौ, भ्रातृजाया>भौज; मारिष>मारछो, मान>माणो, मैत>मातृ गोत्र, मुद्रा>मुंदड़ो, मंड>मांड मसि>मोसो, मूषिक> मूसो; मुंडारि>मुंडारो, मारिका>मारी या मधुकरी>म्वारी; मस्तके>मथे।

यत्र>यत्थ, यंत्र>जांतो, जांदरो; यक्ष>जाख, यष्टि>छट्टी, लठ्ठी। यमल>जौंल्या; योनि>जोन योजिता, योषिता या युवती>जोई योक्तृ>जोत्तो; यवनाल>जोनला; यमराज>ज्यूंरा, रुद्र>रूड़; रमणी>रैण; रिक्त>रीतो,रीति>रीत; रूपसि>रूब्सी; रमणसदृश> रौंस। लिप्सक>लिच्चड़, लवण>लोण; लिक्षा>लीखा; लसक> लश, लीशो; वलीवर्द>बल्द; वधू>बोऊ, वलयकार>बलार,विस्,विष्ट> बिट्ट; विशुष्क+न; या विषममाण>विसूण; विसकूण, वंठ>बेंड, वनजीर>भंगजीर, विक्षण>व्याख्न; विकाले या विगतवेला>ब्याळे; वात>बथौं, व्यक्ति>बैख बल्कल>बक्कल, विभान. विहान>व्याणो, बिलम्ब>बेळम। शैल>सिल्लो, शल्य>सल्ल, शेप>छिपाड़ो शीतल> सेलू, शरीर>शरील, शूर>शूरो, शुक्ल>सुकिलो; स्वामिनी>स्वैण,

सूर्प > सुप्गो, सुधि > सुद्; सिंह > शिऊ, स्थूप > थुप + ड़ो, सीमा > स्यूं, सद्य > सैदो, स्यात् > सैत्, संकीर्ण > सांगड़ो, संपुट > सांपुड़ो, सरसप > सरसू, सीवानी > स्यूणी, स्तोक > थोक, स्थौर > थोर + ड़ो, षाष्ठिक > साट्टी, हिंसा > हींस; क्षत > खतेणू । क्षेत्रपाल > खितरपाल, क्षार > खार, क्षुधा > छुद्या; क्षुब्ध > खुद्द ।

ये कुछ ही तद्‌भव शब्द हैं । हिन्दी में प्रयुक्त अधिकांश तद्‌भव शब्द गढ़वाली में भी प्रयुक्त होते हैं । उन्हें यहां सम्मिलित नहीं किया गया है । आगे ध्वनि और रूप तत्व पर विचार करते हुए गढ़वाली में व्यवहृत अन्य तद्‌भव शब्दों से परिचित होने का भी अवसर मिलेगा । तब यह अनुमान लगाना सरल होगा कि गढ़वाली में संस्कृत की शब्दावली कितनी महत्वपूर्ण है । इन तद्‌भव शब्दों की तुलना प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों से करने पर आश्चर्यजनक समता दृष्टिगोचर होती है । उदाहरण के लिए प्राकृत के निम्नलिखित शब्दों को लिया जा सकता है :

उब्भ, उद्ध, (गढ़वाली उब्बो); इस्सा (रिस्सा, रीष); इसि (इसि) इसीसी, अज्जू (अज्जी, जी, जिया, इजा) अल्ल (आलो); जइ (जै <यदा) तइ (तै—तदा) गरुअ (गरो), मउल (मौळणो), सुविण (स्वीणो); घरओल (—गृहगोली : घिराळो), णत्थि (नाथि) छुहा, छुहिय (सुधा > छोई); शअल (शकट : शऴ्ळ) कत्ति (कृत्तिः कतड़ा) जोन्हा (ज्योत्स्ना : जोन), सिंघाण (सिंगाणू) आदि ।

इसी प्रकार अपभ्रंश और गढ़वाली के बहुत से शब्दों के तद्‌भव रूप में बड़ी समानता है :

अच्छरा (आछरी); ओक्खल (उरख्यालू); कुम्पल (कोंपलू) खंभो (खामू); घाऊ, छईल (छैल), ठाऊ (ठौं) देउल (द्यूळ); नवल्लो (नौलू) ;पाओ (पौ), मउड़ (मौड़); वाउल (बौळू); विहाण (व्याणू) संझा, अग्घाणो उंबी (उम्मी), कडच्छू (करछुलू), कल्होड़ी, खणूसा, खल्ला; घग्घर चउक (चौक), चिल्लर, जोणलिया (ज्वनला), झंखरी (झंगोरो), डलो, राड़, रोट, लसक (लस, लीसो), थट्ट, तांत, थाती,

पणाल (पँडालु), बहुड़ि (ब्रौड़ी), रेल्ल (रेलू), सुहाली (स्वाळी), हट्ट (हाट), खरा (खर्णी), चक्कलक (चौकलो)।

भारतीय आर्य भाषा के मध्यकालीन विकास की लक्षण परम्पराएं गढ़वाली में ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शब्दों में ही नहीं ध्वनियों; शब्द रूपों, समीकरण और व्यंजन ध्वनियों के लोप आदि के उदाहरणों में भी इस प्रकार के लक्षणों को देखा जा सकता है।

§१९. अनार्य भाषाओं के शब्द

यह पीछे कहा जा चुका है कि प्रागैतिहासिक युग में गढ़वाल कोल, भील, किरात, यक्ष,नाग,खश आदि जातियों से सम्बन्धित रहा है। इनमें कई जातियां आस्त्रिक थीं। गढ़वाल के रवांई प्रदेश में हरिजनों की एक जाति कोल+टा कहलाती है। उसी प्रकार भिलंगना नाम भील जाति की ओर संकेत करती है। 'केदारखण्ड' में भी हिमालय में भीलों का उल्लेख किया गया है।[1] वेद्या भीलों की एक जाति है। गढ़वाल में बेडा जाति के लोग आज भी मिलते हैं इसके अतिरिक्त गढ़वाली वीर गीतों में **मालों** का उल्लेख वीर पुरुषों के रूप में आता है। यह शब्द मूल रूप से मल्ल है। मल्लों का उल्लेख हमें बौद्धकाल से मिलता है। वे सम्भवतः शाक्य और मूलतः कोल या मुंडा वंश के थे।[2]

सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि आस्त्रिक लोगों ने आदिम कृषि प्रणाली को विकसित किया था। खोदने की लकड़ी के लिए उन्होंने **लग, लङ, लिङ** शब्द का आविष्कार किया था। संस्कृत में हल के लिए **लांगल** शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द संस्कृत में इसी स्रोत से आया प्रतीत होता है। गढ़वाली में **लुंगला** शब्द प्रचलित है। यह जाति पंजाब और हिमालय तक फैली थी और नदियों की उपत्यका में रहती थी। नदियों के लिए **गंगा** शब्द का प्रयोग इन्हीं की देन है। गढ़वाल में

---

१ **स्कंद पुराण; केदार खण्ड; अध्याय २०६**

२ **ई० जे० टॉमस का उद्धरण; हिन्दू सभ्यता; पृ० २३३**

अनेक गंगायें हैं और वहां यह एक नदी वाचक शब्द मात्र है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ये आर्यों के भय से पहाड़ों की ओर भागे होंगे। इसीलिए आस्त्रिक बोलियां हिमालय के सहारे-सहारे पश्चिमोत्तर तक फैलीं।[१]

इनके अतिरिक्त दूसरी जातियों में किरात बहुत प्रमुख रहे हैं। कुमार संभव में कालिदास ने उनका उल्लेख हिमालय के निवासियों के रूप में किया है। महाभारत में भी हिमालय को किरात; तंगण; कुलिन्द आदि का आवास बताया गया है।[२] इनका रंग पीला होता था। आज भी रवाईं क्षेत्र में बहुत से लोग इस रंग के दिखाई देते हैं। भारत का उत्तर पूर्व इनका मूल स्थान था;बाद में ये कुमाऊं; गढ़वाल, नेपाल में तो फैले ही; इसके अतिरिक्त दूर बंगाल और बिहार तक भी जा पहुंचे। इन्होंने भारतीय आर्यभाषा और संस्कृति को प्रर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। ये लोग चीन–भोट श्रेणी की भाषा बोलते थे। गढ़वाल के सीमान्त पर आज भी भोटिये बसे हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरकाशी का अभिलेख भी तिब्बती सम्पर्क का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

अनार्यों में द्रविड़ सबसे अधिक प्रभावशाली थे। द्रविड़ भी उत्तर पश्चिम से आए थे।[३] हड़प्पा और मोहनजोदड़ो आज भी उनकी स्वर्णिम सभ्यता की ओर इंगित करते हैं। हिमालय से ये लोग सहसा अपरिचित न थे। दिवोदास और सुदास के ज़िस शम्बर असुर से लोहा लेना पड़ा था वह द्रविड़ या किरात ही रहा होगा।

इन अनार्य जातियों ने प्राचीन आर्यभाषा के किस रूप में प्रभावित किया इस विषय का अध्ययन विद्वानों द्वारा हो चुका है।[४] वे

---

१ डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी; पृ० ५३

२ महाभारत, वनपर्व, अध्याय १४०

३ डॉ० मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता; पृ० ४१

४ संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन; पृ० २७४

प्रभाव गढ़वाली में भी विद्यमान हैं। किन्तु ऐसा भी संभव है कि उसमें अनेक ऐसे भी अनार्य शब्द सम्मिलित हुए हों जो परिनिष्ठिता संस्कृत प्राकृत या अपभ्रंश में न आ सके हों। ऐसे शब्दों का अभी अध्ययन होने को है।

§२०. आधुनिक बोलियों से उधार लिए शब्द

उधार लिये हुए शब्दों से हमारा तात्पर्य उन अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के शब्दों से है जो ऐतिहासिक कारणों से गढ़वाली में सम्मिलित हुए हैं। बद्रीनाथ और केदारनाथ; गंगोत्री और यमनोत्री रूपकुण्ड और हेमकुण्ड की यात्रा करने न जाने कब से असंख्य जन भारत के विभिन्न भागों से आते रहे हैं। उन यात्रियों के सम्पर्क ने गढ़वाली को अनेक शब्द दिए हैं। गढ़वाल के लोग जीविका के लिए बाहर जाकर भी अनेक शब्द लेकर आते हैं। हिन्दी की शब्दावली इसीलिए गढ़वाली के लिए अपरिचित नहीं है। इससे भी पूर्व यह बात विचारणीय है कि राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों से गढ़वाल किसी न किसी रूप से सम्बन्धित रहा है। राजस्थान और गढ़वाल का यह सम्बन्ध भाषा विकास के किस स्तर पर रहा है यह कहना कठिन है। जैसा कि कहा जाता है कि मुसलमानों के भय से राजपूत हिमालय की ओर भागे हैं, यदि यह सत्य है तो यह सम्पर्क मध्यकालीन ठहरता है। वैसे भी गढ़वाल का पवार वंश स्पष्टतः राजस्थान अथवा गुजरात से सम्बन्धित था। इस स्थिति में भाषा पर कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस स्तर पर राजस्थानी और गढ़वाली के साम्य की बात की जाती है; पर यह साम्य वास्तव में प्रथम अवस्था का साम्य है जब राजस्थान में फैलने से पूर्व गुर्जर हिमालय में थे और वे एक ऐसी भाषा सीख रहे थे जिसे वे राजस्थान ले गए।

उसी प्रकार व्रजभाषा से गढ़वाली का लगाव होना दूर के एक ही मूल के कारण स्वाभाविक है; इससे भी अधिक ब्रजभाषा का

व्यक्तित्व बहुत विराट् रहा है। एक युग में वह उत्तर भारत की साहित्य भाषा और राष्ट्रभाषा रही है। गढ़वाल भी उससे अपरिचित न था। मोलाराम ने अपने काव्य की रचना ब्रज में ही की थी। इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि एक बार लोकगीतों का संग्रह करते हुए जब मैं रवाईं पहुंचा तो एक बुढ़िया ने, जिसने और जिसके पूर्वजों ने कभी अपने गांव से बाहर पैर न रखा था, मुझे कई ऐसे गीत सुनाए, जिनकी भाषा ब्रज थी। बाद में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वृज की अपनी एक प्रसार परम्परा थी और उसका क्षेत्र कभी सुदूर हिमालय तक भी रहा होगा।

बिहारी और पूर्व की बोलियों से भी गढ़वाली का हलका लगाव प्रतीत होता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कत्यूरी राजा पूर्व से संबन्धित थे। यह उनके ताम्रपत्रों और बंगाल के पाल वंशीय राजाओं के अभिलेखों के साम्य तथा हिमालय-विजय की घोषणा से भी पुष्ट होता है। कत्यूरी राजाओं को 'कुशली' (कोशली) कहा गया है। इस दृष्टि से मागधी अथवा अर्धमागधी प्रभाव और शब्दरूपों का गढ़वाली में होना अस्वाभाविक नहीं।

इस प्रसंग में दरद का उल्लेख भी हो जाना आवश्यक है। गढ़वाली में दरद या पैशाची के अनुकूल ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं होते हैं। फिर भी दरद शब्दों का गढ़वाली में पार्श्व की जौनसारी तथा अन्य पश्चिमी पहाड़ी बोलियों के माध्यम से प्रवेश करना संभव है। एक विद्वान् ने ऐसे कुछ शब्दों की ओर संकेत किया है किन्तु वे संस्कृत शब्दों के ही तद्भव रूप हैं।

गुजराती, मराठी, पंजाबी और बंगला[1] के भी बहुत से शब्द गढ़वाली में विद्यमान हैं। किन्तु शब्दों के इस साम्य के आधार पर कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती।

---

१ देखिए : अंगारा (मासिक) अंक १, नेगी का लेख।

§२१. विदेशी शब्द

विदेशी शब्द मुसलमानी और अंग्रेजी प्रभाव से आए हैं। गढ़वाल पर मुसलमानों का शासन नहीं रहा, पर दिल्ली दरबार से उसका संपर्क रहा ही है (दे० §८), जिसके फलस्वरूप अनेक अरबी, फारसी के शब्द गढ़वाली में घुस आए और जिन्हें बोलते हुए गांवों में रहने वाला गढ़वाली यह महसूस नहीं करता कि वे गढ़वाली के शब्द नहीं हैं। ये शब्द कुछ हिन्दी, उर्दू के माध्यम से प्रविष्ट हुए हैं, कुछ जन-संपर्क से और कुछ कचहरियों के द्वारा लोक में घुल मिल गए हैं। यहाँ कुछ उल्लेखनीय हैं :

अब्बल, अक्कल(अक्ल), असल, आलाचार (लाचार), अफसोस, अंताज (अन्दाज), इकत्यार (अख्तियार), ऐसान (अहसान), अर्ज; अदौट (अदावत), अमन, आजाद, असमान (आसमान), आदमी, आजुजी, आम, आस्ते (अहिस्ता), आसान, आखिर, आदत, आइनन्दा (आयंदा) आमद, आबरू, आराम, इमान, इलम (इल्म), इल्लाज (इलाज), इन्तजाम, इन्सान, करार (इकरार), इन्तजार, इमदाद; इलजाम, इशक, इजाजत, इज्जत, इतफाक, इन्साफ, उमर (उम्र), उजर (उज्र), उस्ताज (उस्ताद), उमेद (उम्मीद), हुद्दा (ओहदा), ऐश, ऐना (आयना), औरत, औलाद, औजार; औकात।

कदम, कतल, कलेजो, काबू, कारगरी (कारीगर), कारबार (कारोबार), कैम (कायम), किसम (किस्म), कुदरत, किसम, कानून, कदर (कद्र), कसर, किस्मत, कजा; कसम, करामात, कर्ज, कीसा (किसह), कोऽत (कूवत) कैद, कब्जा, किमत(कीमत), कैदो (कायदा), कोशिश, काफी, कौम, काबिल, कुनबा, कमबख्त, कौल, कवाज(कवायद), कसूर, कबूल, कमीना, खून, खूश (खुश), ख्याल, ख्वैन्द (खाविंद), खबर, खपसूरत, खातिर, खातिर जमा रहना, खता, ख्वैश (ख्वाहिश), खसम, खराब, खर्च, खामुखा (खामख्वाह), खुब्बी (खूबी), खाक, खाणा, खजानू, खानदान, ख्वैन्द (खाविंद), खप्ती (खफ्ती), खतम, खुशामद, खुलासा, खामोस (खामोश), खतरा, खिलाप, खैर, खिजमत;

(खिदमत) खुराक गुलाम, गुस्सा, गरज (गर्ज) गरीब गलत, गरूर, गश्त, गुनौ (गुनाह), गनीमत, गारद (गारत) मुश्गल (मुश्किल); गरदन, गरदस (गर्दिश), गैर, गुज़र, गर्दा, गुर्दा।

चीज, चुगली, ज्वानी (जवानी), जमात्, जमीन जनौर (जानवर), जागा (जगह), ज्यान (जान), जोरू, जखम (जख्म), जबान, जंगल, जुद्दों (जुदा), जैर (जहर), जोश, जरूरत, जबरदस्ती, जुम्मा, जुलम (जुल्म), जादा (ज्यादा), जिन्दड़ी, (जिन्दगी), जल्दी, जिकर (जिक्र), जमात, जरा, जबाव, जफत (जब्त), जांन्बेजां (जा-बेजा), जनानी, जेवर, झलसा, (जल्सा), जोर, जिनस (ज़िन्स); ज़ैदात (जायदाद), ज़ामो, जुल्फी।

तबाई (तबाही), तकलीप (तकलीफ), तज़रुबा (तजुर्बा), तबेत (तबीयत), तमाशा, ताजुब (ताज्जुब), तमाम, ताबेदार, ताकत, तेज़, ताल्लुक, तंग, तलब, तनख्वा, तलाश तारीफ, तक़ाज़ो तरक्की, तरीका; तरप (तर्फ), तसल्ली, तरकीब, तासीर, तोफत (तोहमत), दब्तर दफ्तर), दैंसट (दहसत), दर्द, दम, दिल, दर, दशकत (दस्तखत), दुश्मन, दिमाग, दिक्कत, दस्तूर, दोस्त, डिगर (दीगर) दारमदार (दारोमदार), दरखास (दरख्वास्त), दफा, दुरस (दुरुस्त) दरम्यान, दर्यामद; (दरामद), दानो, दीन दुनिया, दरगा (दरगाह) दौंर (दौर), दाग, डौळ, नज़र, नशा; नसीब, नतीज़ा, निशान, नखरा, नसेत (नसीहत), नाजुक, नकल, नगद, निगाह; नाराज, नफा, नुकसान, नफरत, नेथ (नीयत), नागवार, नौबत।

पर्दा; पसन्द, पस्त, परभा (परवाह) परबस (परवरिश), परेज़ (परहेज़); पेच, पैदा, फरियाद, फौज़, फते (ह), फरमैस (फरमायश), फजूल, फर्ज, फोरन (फौरन), फैदू (फायदा), फकीर, फैसला, फरक (फर्क), फिसाद, फिरका, फलाणू (फलां), फिदना, फतूर; फजीतू (फज़ीहत), फरेब, फितरत, फिर्याशानी (परेशानी), फकत, फसल, बैम (बहम), बदमाश, बुन्याद (बुनियाद); बरतौ (बर्ताव), बिगर,

बगैर, बेहद, [illegible]कूब (बेवकूफ), बरगत, बुजरग (बुजुर्ग), बद्दी (बदी), बेहतर, [illegible]गार, बेशुमार, बेशी, बयान, बैस, (बहस) बरदाश [illegible], ब[illegible]शीश, बशार; बफा (बफा), बग्त (वक्त), बानू (बहाना), बराबर, बाज़ी, बाबत, बबाल, माफिक (मुआफिक) मातबर, मर्द मज़ा, मुश्कल (मुश्किल); मासूर (मशहूर), मोबत (मुहब्बत), मुलाकात, मैमान (मेहमान); मिजाज, मुसीबत; मौका, मुफत, मुलाजू (मुलाहजा) मजूर (मन्जूर), मुराद, मजाक, मंशा, मजबूत, मंसूबा, मजाल, माफ, मातात (मातहत), मालिक, मुताबिक; मौज़, मतबल, (मतलब) मुकरिब (मुकर्रर), मुकाब्लू (मुकाबिला), मलामत, मामली, (मामूली), मसल, मासूल, (महसूल), मुस्तेजा (मुस्तैद), मदत (मदद); मुनासिब, मेनत मिनगत (मेहनत), मर्जी, मुलक (मुल्क), मलाल, मिसाल, मर्तवा, मुकाम, मुनाफू, मुकद्दर, मालम (मालूम), मरम्मत, (मरोम्मत)।

यकीन, याद, ह्यार (यार), रबत (रफ्त), रस्ता, रिश्ता, रैम (रहम) रिवाज, रंज, रकम, रौनक, लबज (लफ्ज, ल्याज (लिहाज); लैख (लायक), लाजिम; लाश, ल्याकत (लियाकत), लाम, वजन, वारिस, वाजिब, वजै (वजह), बफा, बर्फ; सुक्कर (शुक्र), शरम, शर्त; शरीक, शरारत, शौक, शैर (शहर); शेक्की (शेखी), शकल शिकस्त, शोदा; शकस (शख्स), शक, शिकैत; शामिल, सप्पर, (सफर), स्वाल (सवाल), सिरप (सिर्फ) सबर (सब्र); सुबा सुबहा ; सौदा; सो (ह) बत, सौलियत (सहूलियत) सबक; सर्दी; सगो (शऊर); सलेका (सलीका) सकल (शक्ल); सजा, हिकमत (हिम्मत हद्द; (हद); हराम; हमेश; हौसला; हर्जा; हुकम; हकमत (हकूमत); हमला; हासिल; हालत; हर्गिज; हुनर; हिसाब; हसूल (वसूल); हजम; हैवान; हैसियत; हौम हरूप।

आरम्भ में इन शब्दों को ग्रहण करने में प्रयाप्त कठिनाई रही होगी। इसीलिए बोलचाल में बहुत से समानार्थी अनुवाद समास प्रयोग में आ गए। दर्द-पीड़; वीर-बादर; न्यौ-निसाब; ज्यू-पराण; अक्कल-मति; लाज शरम, आदर-खातर, हाल-समाचार, चीज-वस्त, ख्वैन्द-गुस्यू।

§२२. जहां तक योरोपीय शब्दों का सम्बन्ध है, वे भी हिन्दी या हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के माध्यम से ही गढ़वाली में प्रविष्ट हुए हैं। इनमें से कुछ शब्द पुर्तगाली हैं, और कुछ अंग्रेजी :

अस्पताल; अपर, अपील, औडर, इसकूल, अफसर, निसपेटर, मिडिल, मास्टर; कुमेठी (कमिटी), परात, मेटिंग (मीटिंग), कल्लट्टर, डिप्टी, गिलास, गैस, जेल, लाट, पुलिस; टेम, टिगट, डबल, डौन (डाउन), लम्बर, तमाखू, लौट, (नोट), पलटन, पिनसिन (पेन्सन); फोटू; बटन, फेता, मशीन; फ्यासन (फैशन), माचीस, मिलट (मिनिट), मोटर, रूल लम्पू, होटल; सिगरेट, लेट, रेट, कण्टरोल; सुसैटी; रेडू, भोट (वोट , चांगस (चांस), डानस (डान्स) ।

§२३. देशज शब्द

देशज शब्दों के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ कहने की अपेक्षा केवल कुछ अनुमान लगाए जा सकते हैं। गढ़वाली बोली में अनुकार ध्वनि युक्त शब्दों का प्राधान्य है और यदि हम आरम्भिक भाषा की निर्माण की प्रक्रिया ध्वन्यानुकरण; अनुरणन और प्रतीकों पर आधारित मानें तो गढ़वाली देशज शब्दों के अनेक मनोरंजक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऐसे कुछ शब्दों का उल्लेख आगे 'अनुकार सूचक अव्यय' और 'अनुकरणात्मक धातुएं' § में किया गया है कुछ और शब्द यहां भी द्रष्टब्य हैं: कतमत, काई-बाई; छंदमंद, सिंस्याट; चुंच्याट, भिभड़ाट; सतबत, खतबत; छुतबुत, लुतपुत; सुरसुर्या; कुरमुर्या; दणमण, छणमण; चचराणू ककड़ाणू, भुसमुस, लुड़क्यालू, फुरक्यालू, खळखळो; करकरो, जरजरो, दरदरो; चचकार ।

शब्द निर्माण की यह प्रक्रिया स्पष्टत: प्रारम्भिक है। बहुत सम्भव है, इस प्रकार के शब्दों का सम्बन्ध गढ़वाल के मूल निवासियों से रहा हो।

ध्वनि-तत्व

स्वर-ध्वनियाँ

§२३. गढ़वाली बोली की अधिकांश स्वर-ध्वनियां हिन्दी के समान ही हैं। वैसे अपनी स्वर-सम्पत्ति उसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से प्राप्त हुई है और हिन्दी में आते-आते कई प्राचीन स्वर-ध्वनियां अपना उच्चारण बदल चुकी हैं, किन्तु गढ़वाली में अभी भी वे सुरक्षित हैं। यही कारण है कि गढ़वाली में हिन्दी के अतिरिक्त भी कई पृथक ध्वनियां विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए उसमें ह्रस्व स्वरों का अति ह्रस्व उच्चारण भी प्रचलित है। उसी प्रकार प्लुत का प्रयोग केवल सम्बोधन तक ही सीमित नहीं मिलता। इसका कारण भौगोलिक प्रतीत होता है। पहाड़ों में लोग दूर से भी आह्वान करते हुए बातें कर लेते हैं और वहां नदियों के 'कलकल'–मय अवरोध के बीच ध्वनि को श्रव्य बनाने के लिए प्रायः लम्बे सुरों का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है।

§२४. इस प्रकार गढ़वाली में निम्नलिखित स्वर ठहरते हैं :

अ′, अ अॅ, **अऽ, **आ′ आ, आॅ **इ′** इ, **इ″,** ई; **उ′, उ, उॅ,** ऊ, ए, **ऍ ए′,** ऐ′ **ऐ″,** ऐ **ओ′ ओ, ओ″, औ′ औ**।

§२५. इस प्रकार संस्कृत में जहां **अ, आ** केवल दो ध्वनियां हैं, वहां गढ़वाली में उसके कई उच्चारण विद्यमान हैं। वास्तव में **अ** ध्वनि का उच्चारण गढ़वाल के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न **रूप** में होता है। उदाहरण के लिए **घर** शब्द विभिन्न पट्टियों में घोर **घौर, घऽर,** घॅर

आदि रूपों में बोला जाता है। रवाईं-जौनपुर क्षेत्र में अ ओ ध्वनि में ढलता प्रतीत होता है। जिला गढ़वाल की सलाणी उपबोली में वह औ हो जाता है। अतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने गढ़वाली अ ध्वनि का उच्चारण पूर्वी भाषाओं, भीली तथा मराठी के समान अर्ध संवृत ओ अथवा सवृत ओॅ बताया है।[1] यही नहीं, कहीं-कहीं तो अ ध्वनि अए रूप में भी विकसित मिलती है, यथा डर : डॅर।

अ का विलम्बित दीर्घ उच्चारण (अऽ) गढ़वाली में सामान्य है, जैसे कखऽ। उसी प्रकार ह्रस्व उच्चारण(अ')भी व्यापक है। खड़ी बोली में यह ध्वनि लुप्त हो चुकी है, किन्तु हिन्दी की कई बोलियों में यह अभी विद्यमान हैं। अपभ्रंश में भी इस प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं। वेदों में सम्भवतः ह्रस्व स्वर थे और अ का उच्चारण प्रतिशाख्यों के समय में ही अति ह्रस्व रूप में होने लगा था।

अ ध्वनि हिन्दी में जब शब्द के अन्त में आती है तो व्यंजन में प्रायः उसका उच्चारण लुप्त हुआ मिलता है। गढ़वाली में अ व्यंजनों में भी संस्कृत के समान ही सुरक्षित मिलता है। अ कहीं निर्बल स्वर के रूप में अवश्य दिखाई देता है किन्तु उसका सर्वथा कहीं लोप नहीं हुआ है। निर्बल अॅ या तो तब उदासीन स्वर की तरह उच्चारित होता है या पूर्व स्वर के साथ मैत्री कर लेता है। व्यंजन के लोप हो जाने पर जब अ उद्वृत्त स्वर के रूप में रह जाता है तो उसके उच्चारण का यही रूप होता है, जैसे; छादन > छाअण > छाअॅन; घात > घाअ > घौअॅं। पंजाबी, अवधी, व्रज, भोजपुरी आदि में भी इस स्वर का अस्तित्व मिलता हैं। जिन शब्दों के अन्त में ळ, ङ या ण ध्वनि आती है, उनमें प्रायः निर्बल उच्चारण के साथ अ श्रुति मिलती है, काअॅळो; राअॅणी, राअॅड़, बाअॅंड़ो। इस प्रबृत्ति के दर्शन ब्रज और राजस्थानी में भी होते हैं।

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : व्रजभाषा, पृ० ४५

§२६. इ' अपूर्ण ध्वनि-सी है और अति ह्रस्व रूप में ही इसका प्रयोग होता है। अन्त्य इ' परवर्ती दीर्घ स्वर के संसर्ग में प्राय: उदासीन स्वर की तरह उच्चारित होता है। यह ध्वनि शब्द के प्रारम्भ, मध्य और अन्त, तीनों अवस्थाओं में पाई जाती है : इ'थैं, मै इ'त, खाइ'क, औन्दइ', दइत'।

§२७. उ के उच्चारण में गढ़वाली में ओठों को हिन्दी उ की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ाना पड़ता है, पर बंगला की भांति इसमें ओंठ अधिक वर्तुल नहीं होते। इस स्वर की प्रवृत्ति इ॰ के समान फुसफुसाहट वाले स्वर में ढल जाने की ओर अधिक लगती है। अति ह्रस्व ध्वनि उ' भी उच्चारण में उ से ही संबन्धित है।

§२८. **ए, ऐ, ओ, औ** का उच्चारण सामान्यत: येइ', आइ' वो, आउ' होने लगा है। ए की निर्बल ध्वनि ऍ का उच्चारण कभी अर्द्धस्वर **यॅ** की भांति होता है, जैसे क्यॅक (केक); त्यॅल (तेल), ऍसो, ब्यॅटा (बेटा)। अति ह्रस्व ए' का उच्चारण **ए** और ऍ के बीच में पड़ता है, जैसे ए'ति; से'तु; मे'रो; स्ये', से'ट, बे'क्ति, त्वे', ज्वे', ले'। अपभ्रंश में भी यह ध्वनि विद्यमान थी; हेमचन्द्र ने इस ओर संकेत किया हैं।[1] प्राकृत में भी संयुक्त स्वरों के ह्रस्व रूपों के होने के प्रमाण दिए जाते हैं। संभवत: संस्कृत में भी इस प्रकार के उच्चारण का अभाव न था। यह माना जाता है कि इस प्रकार का उच्चारण साम्वेदीय शाखाओं में विद्यमान था।[2]

यही नहीं, गढ़वाल के कुछ भागों में **ए** ध्वनि **या** रूप में परिणत होती मिलती है : चेला>च्याला, केकू>क्यांकू, देश>द्याश। उसी प्रकार रवाँल्टी उपबोली में **ऐ ओई'** या **अइ'** रूप में उच्चारित होती है, जैसे, वैरी>बोइ'री दैत्य>दइ'त, चैत>चइ'त। उच्चारण की यह परम्परा प्राकृत में भी मिलती है । **ए ऐ** के लिए **अइ** लिखने का विकल्प तब

१ **कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम्—हेमचन्द्र** ४।४१०

२ **डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २१८**

भी विद्यमान था (**पिशल §६१**)।

ए, ऐ, ओ, औ वास्तव में संयुक्त स्वर हैं। **ए′** और **ओ′** तब आदिम मूल स्वर रहे होंगे। गढ़वाल के कुछ भागों में **ओ** कहीं **वो** और कहीं **व**, वॉ उ, रूप में उच्चरित होता है, रोटी>र्‌वँटी, र्‌वाँटी; बोझ> ब्वँज, ब्वॉज। **औ** ध्वनि प्राय: ऑउ या अउँ हो जाती है, पौर>पउॅर। पाणिनी के 'एचो यवायाव' सूत्र से स्पष्ट है कि ए, ओ, ऐ, औ क्रमश: अय्, अव्, आय्, आव ध्वनि युग्म हैं। अत: **अ** या **आ+उ; अ** या **आ**+ई का **ओ** और ऐ उद्‌वृत्त स्वर से संध्यक्षर रूप में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी मिलती है। इसी प्रकार तद्‌भव शब्दों की पदांत ओ′ ध्वनि कर्त्ता की विभक्ति (:,सु) की प्रतीक रूप में, जैसे कंटक:>काँडो′, बातुल>बौळो′,—बहुत मिलती है।

§२९. इन स्वरों की प्लुत ध्वनियां सम्बोधन और आह्वान में सुनने को मिलती हैं। काकु या बनकर बोलने में भी ऐसी ध्वनियां प्रयोग में लाई जाती हैं। गुणाधिक्य या मात्रा का रूप, आश्चर्य, करुणा आदि भावों को प्रकट करने के लिए प्लुति लाने की प्रथा है, जैसे भलीऽनौनी=बहुत भली लड़की। उसी प्रकार किसी बात पर जोर डालने के लिए, मैन जाणौऽनी=मैं बिल्कुल नहीं जाऊंगा।

§३०. ऋ की गणना संस्कृत में स्वरों में हुई है किन्तु गढ़वाली में **ऋ** लिपि चिन्ह होते हुए भी उसका उच्चारण **अब रि** ही रह गया है और तद्‌भव शब्दों में तो उसका लोप सा हो गया है। प्राय: वह अपने पूर्व व्यंजन के साथ अ, आ, इ, उ रूप में ही समाहित हो जाता है। केवल कुछ ही शब्दों में ऋ ध्वनि सुरक्षित रह पाई है, जैसे ऋण, रिक्क(ऋक्ष), ऋतु, ऋषि आदि।

§३१. अनुनासिक और अनुस्वार

गढ़वाली में प्रत्येक स्वर का अपना अनुनासिक रूप है। उसमें अनुनासिकता निम्नलिखित रूपों में मिलती है :

वर्गीय अनुनासिक के पूर्व का वर्ण दीर्घ हो जाता है, यथा, **पाँगो**<पंक, **दाँत**<दंत, **पाँत**<पंक्ति, **जाँत**<यंत्र, **राँग**<रंग, **आँग**<अंग। ऐसी अवस्था में अनुस्वार ह्रस्व हो जाता है। अनुस्वार के ह्रस्वीकरण के और भी उदाहरण मिलते हैं : कंठ>काँठो, संस्कार>सँऽसकार, अंकमाल>अँग्वाळ, अंगार>अँगार, महंत>मँऽत, दंड>डाँड । यह प्रवृत्ति ब्रज आदि बोलियों में भी विद्यमान् है।

संस्कृत के नपुंसक लिंग प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में शब्द के अन्तिम **न्** और **म्** अनुस्वार में परिणत हुए मिलते हैं। संस्कृत का **वनानि** गढ़वाली में **बणाइँ** हो जाता है। मध्य का **म वँ** बनकर पूर्व वर्ण से मैत्री कर लेता है, कमल>कौंळ।

नासिक्य व्यंजनों के परवर्ती स्वरों में भी आनुनासिकता के दर्शन होते हैं : नौंनी, पराँण, गौंणी, चँणा, गँऽणा (गहना)। म् का उच्चारण अनुस्वार के साथ करने की प्रवृत्ति अनेक शब्दों में मिलती है— मैं, मीं, मुँ, माँज, माँमाँ, मौंन, आदि। संपर्कज सानुनासिकता के उदाहरण **न्**, **ण्**, **प्**, **म्** के साथ ही अधिक मिलते हैं। प् ध्वनि के साथ प्याँर, पाँख, पाँन, पाँणी, फाँश (पाश), पैंसा, चौं तिरफ, तथा **स** ध्वनि के साथ साँच, साँत (साथ), साँप के रूप में जो सानुनासिकता मिलती है उसकी व्याख्या भिन्न रूप से ही की जानी चाहिए। गढ़वाली में स्वतः अनुनासिकता का भी अभाव नहीं है। इसी संदर्भ में कुछ शब्दों का अध्ययन मनोरंजक है : नाटंक, जंपणू (जपना), साँसो (साहस), छाँयाँ, रंचना, मुंगरों (मुद्गर), नमसंकार (नमस्कार), न्यूं (नीवी), दैंत (दैत्य) कूंजो (कुब्जक), हंत्या (हत्या), सिंवाल (शैवाल)। दूसरी ओर ऐसे भी अनेक शब्द हैं जिनकी अनुनासिकता गढ़वाली में आकर लुप्त हुई है : वसत (रवाँल्टी में वसन्त के लिए), मास (मांस), सिऊ (सिंह), अलखण (उल्लंघन) आदि।

स अथवा **श** के साथ जहां संस्कृत में अनुस्वार होता है, वहाँ उसके गढ़वाली उच्चारण में ग् का आगमन होता है, जैसे संगसार (संसार),

वंग्श, अंग्श, मांगस आदि । इन वर्णों के साथ अनुस्वार का यह उच्चारण 'गुम्' रूप में वैदिक काल में भी विद्यमान था ।[1]

§३२. स्वर-संयोग

गढ़वाली में दो या अधिक स्वरों का संयोग पाया जाता है । किन्तु यह बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उन स्वरों का उच्चारण उन स्वर ध्वनियों को संध्यक्षर में परिणत कर बोले या विभिन्न स्वरों की सत्ता पृथक बनाए रखे । हाँ, कुछ शब्द ऐसे अवश्य हैं जहाँ संध्यक्षरों और संयुक्त स्वरों के उच्चारण में सतर्कता की आवश्यकता होती है, क्योंकि उनका विभिन्न उच्चारण विभिन्न अर्थ का द्योतक है :

सऊँ (सवाँ), सौं (कसम), बऊ (तैरना), बौ (भाभी), रऊ (तालाब), रौ (राव, राजा), देउ (देव), द्यौ (आकाश), जई (फूल), जै (जय), लाई (सरसों); लै (लिए), साई (साक्षी), सै (सौ, सही), भाउ (भाव), भौ (दर), कुई (कुवाँ), क्वी (कोई), कई (कई), कै (वमन) ।

§३३. अर्ध-स्वर

अर्ध स्वर य् और व् गढ़वाली में विकल्प रूप से अ, इ तथा ओ, उ, से परिवर्तनीय हैं । प्रारम्भ का **य** ज में परिणत हो जाता है किन्तु जहाँ य का उच्चारण इ की ओर ढलता मिलता है वहां य प्राय: सुरक्षित रहता है । वास्तव में प्राकृत तक आते-आते **य** का दुहरा विकास होने लगा था । शौरसेनी अपभ्रंश में भी **य** का उच्चारण लघु प्रयत्न कर और अपूर्ण था । गढ़वाली की **य** ध्वनि भी ऐसी ही है । इ गढ़वाली में अनेक अवसरों पर **य** रूप में उच्चरित होता है : विन्दु>व्यन्दु । व् उ सानुकूल ध्वनियाँ हैं : स्वप्न>सुइणा । अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी ।

---

१ **डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११५**

गढ़वाली में **य** और **व** श्रुति का प्राधान्य हैं। यह परम्परा उसे प्राकृत और अपभ्रंश से प्राप्त हुई है। गढ़वाली में य और व श्रुति के जो कुछ रूप मिलते हैं वे उन्हीं के अनुकूल हैं : नगर>नैल, हृदय>हियो, शुक>सुवा, श्रृगाल>स्याळ, वीजपूर>विजोरा; अंधकार>अंध्यारो, कुन्तळ>कौंळ, शूकर>सोर । लौकिक संस्कृत में य की अपेक्षा व श्रुति का संध्यात्मक **ओ** रूप अधिक मिलता है। गढ़वाली में **ओ** और **औ** दोनों रूप सम्भव हैं। गढ़वाली की व ध्वनि बहुधा जब संधि नहीं करती तो प्राय: ब में परिणत हो जाती है। **य** को कभी शब्द के साथ जोड़ देने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है, जैसे शाम : श्याम; परेशान : पर्यासान। व श्रुति का मुख्य आधार **प** और **म** ध्वनियाँ हैं।

स्वरों की उत्पत्ति

गढ़वाली में प्रयुक्त स्वर ध्वनियों की उत्पत्ति इस प्रकार संभव है।

§३४ अ, अ', अँ ध्वनि का मूल :

[१] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अ से जैसे—**
झ'णों (जन:), दइ (दधि), शल्ल (शल्य)।

[२] **स्वराघात के अभाव में संस्कृत आ से,**
अ'पणो (आत्मन्), झँळ (ज्वाला), आगाश (आकाश), निरंकार (निराकार), बत्वाणी (बात-पानी), अळसो (आलस्य), पखाण (पाषाण), कबासी (कार्पासी), अजी (आर्य), वसगाळ (वर्षाकाल), सग्वाड़ी (शाक वाटिका), मयाल्दु (माया रूप)।

[३] **संस्कृत इ, ई से,**
कशो (कीदृश), बभूत (विभूति), परचो (परिचय), कथाऽ (कियत्), उणदो (उनिद्र), जोत (ज्योति), काणसो(कनीयस्)।

[४] **संस्कृत उ, ऊ (बिशेषत: मध्यग से।**
गरों (गुरुक:), मणस (मनुष्य), मेंडकों (मंडूक), पुर्स (पुरुष),

चत्तर (चतुर), वस्त (वस्तु), कुखड़ो (कुक्कुट)।

[५] **संस्कृत ऋ से,**

मौळीक (मुकुली कृत), माबत(मातृ+पुत्र), ठंकार(श्रृंगार)।

[६] **स्वर भक्ति से,**

जुगम (युग्म), बिगन (विघ्न), नेतर (नेत्र)।

§३५. आ ध्वनि का मूल :

[१] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के आ से;**

क्वात (क्वाथ), व्याणो (विभान), लीखा (लिक्षा)।

[२] **प्राचीन आर्य भाषा के अ से,**

माथे (मस्तके), आथि (अस्ति), माळ (मल्ल), रातो (रक्तक), बाछलू (वत्स–रूप), काखड़ी (कर्कटी), सम्यक् (साम्मो), पाथो (प्रस्थ), आछरी (अप्सरा), सामळ (संबल), पाछ (पश्च)। इस प्रकार द्वित्व वर्णों से पूर्व का अ, आ में परिणत हो गया है।

[३] **संस्कृत के अ आ तथा आ अ के संयोग अथवा स्वर संकोच से**

अंध्यारो (अन्धकार), बरात (वर यात्रा), कोठार (कोष्ठागार), कल्यार(कल्याहार), अंग्वाळ(अंकमाल), खल्याण(खलस्थान)।

[४] **द्वित्व व्यंजनों के पूर्व प्रयुक्त ऋ से,**

माटो (मृत्तिका), सांकळ (श्रृंखला), माठ्ठ (मृष्ठ)।

§३३. इ ध्वनि का मूल :

[१] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के इ से,**

निमौ (निम्बुक), मुठि (मुष्टि)।

[२] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अ से,**

पिंजरो (पंजर), लिशो (लशक), जिउंरा (यमराज), रिटणो, रिड़णो (पर्यटन), छिमा (क्षमा)।

[३] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के ऋ से,**

रिक (ऋक्ष), किरमोलो (कृमि+ल), मिरतिक(मृतक)।

[४] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ए से,**
खितरपाळ (क्षेत्रपाल)।

[५] **प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऐ से,**
सिवाळ (शैवाल), संप्रसारण से इस्कूल, इस्थिति।

§३७. ई ध्वनि का मूल :

[१] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) के ई से**
शीश, शीत, धन्नी (धरणी), संगाती (संगार्थी)।

[२] **अन्त्य स्वर के लुप्त हो जाने पर संस्कृत इ से,**
तीथ (तिथि), हींस (हिंसा), जीब (जिह्वा), इष्ये, (ईषत्)।

[३] **संस्कृत उ से,**
बाई (वायु), आयु (आई)।

[४] **संस्कृत ऋ से,**
तीश (तृषा), पीट (पृष्ठ), ढीट (दृष्टि)।

[५] **संस्कृत ए से,**
मलीच (मलेच्छ)।

§३८. उ ध्वनि की उत्पत्ति :

[ ] **प्राचीन भा० आर्यभाषा के उ से यथा—**
खुंडो (कुंठा), मुख, सुकलो (शुक्ल), सुद् (सुधि), उच्छौ (उत्सव), दुल्लभ (दुर्लभ)।

[२] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के ऊ से,**
भुइँ (भूमि), पुर्व (पूर्व), सुप्पो (सूर्प), सुर्ज (सूर्य), थुप+ड़ो (स्तूप), सुन्न (शून्य), धुवाँ (धूम्र)।

[३] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा ओ से,**
कुरोध (क्रोध)।

[४] **संस्कृत ऋ से,**
साउंति (स्मृति), भाऊज (भातृ जाया), पुछणो (पृच्छ), बुड्या (वृद्ध)।

[५] किसी व्यंजन से संयुक्त व से,

सुभौ (स्वभाव), सुपिने (स्वप्न), तुर्त (त्वरित्), सुनो (स्वर्ण), कु (क्व), दुवार (द्वार), सुर (स्वर)।

§३९. ऊ की उत्पत्ति :

[१] संस्कृत ऊ से,

ऊन (ऊर्ण), मूत (मूत्र), बौऊ (वधू), शूरो (शूर)।

[२] संस्कृत उ से,

असूर (असुर), पूत (पुत्र), पूच (पुच्छ), पूठो (पुष्टाः, रूड़ (रुद्र; कूल (कुल्या), कूड़ी (कुटी,) फूल (फुल्ल), निठूर (निष्ठुर), सूर (सुरा), शूच (शुचि), सूतो (सुप्त)।

[३] ओ औ से

जूगत (योग्य), पूष (पौष), गूस्यूं गोस्वामी), दूण (दोण), कूण (कोण)।

[४] शब्द के अन्त की अव ध्वनि से

भैरू (भैरव, सेन्दू (सैंधव, दाणू (दानव)।

§४०. ए', ए की उत्पत्ति :

[१] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ए से,

से'तु (श्वेत), मजे (मध्ये), नेतण (नेत्र), वेळ (वेला), जे'ठो (ज्येष्ठः), ए'कलो (एक+लः)।

[२] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ऐ से,

से'ज (शैय्या), गैरिक (गे'रू), ते'ल (तैल)।

[३] प्राचीन आर्य भाषा के अ तथा आ से

में'डको (मण्डूक), पटेलो (पटल), केमू (क्रमुक)।

[४] संस्कृत की इ ध्वनि से,

छेमी (शिम्बा), दलेद्दर (दरिद्र), धमेली (धम्मिल), पवेत्तर (पवित्र), चरेत्तर (चरित्र), सेमल (शिम्बल)।

[५] य अथवा व के साथ स्वर संयोग से,

थेळ (स्थविर), रस्वे'ई (रसवती), कलेऊ (कल्यवर्त), ज्वैई (जाया', परसे' (परश्व)।

[६] संस्कृत ऋ ध्वनि से

देखेन्द (दृश्यन्ते)।

§४१. ऐ ध्वनि का मूल :

[१] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ऐ से,

वेद (वैद्य), दैव, कैलाश।

[२] प्राचीन आर्य भाषा के आ से

ऐंचलू (आँचल), मैत (मातृगृह), सैत् (स्यात्)।

[३] य के साथ हुई स्वर सन्धि से,

मै (मय), समै (समय), परैछित (प्रायश्चित), निच्छै (निश्चय), रामैण (रामायण)।

[४] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ए से

ऐंषु (एषम्), पैणो (प्रदेशन), सैना (सेना)।

[५] हकार का लोप तथा अवशिष्ट स्वर की पूर्व स्वर के साथ मैत्री हो जाने से,

गैख (ग्राहक), भैंसी (महिषी), गै'र (गह्वर)।

[६] उद्वृत्त स्वरों के साथ पूर्व स्वर की मैत्री से,

रैण (रमणी), नैल (नगर), स्वैण (स्वामिनी), पैंतर्वाण (पदत्राण), बैण (भगिनी), बैरो (वधिर)।

§४२. ओ ध्वनि की व्युत्पत्ति :

[१] संस्कृत ओ से,

ओंठ (ओष्ठ), जोतो (योक्त्र)।

[२] संस्कृत औ से,

गोरो (गौर)।

[३] संस्कृत के अः से,

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत की प्रथमा विभक्ति लुप्त

हो गई हैं किन्तु कई हिमाली बोलियों में यह **ओ** (अथवा **उ**) रूप में शब्द के साथ ही जुड़ी मिलती है। ओ संस्कृत में भी विद्यमान था और बाद में प्राकृत में भी रहा। यह अस् (सु,:) का प्रतिरूप है। गढ़वाली में यह पुलिंग शब्दों में सर्वत्र विद्यमान है :

बाळो (बाल:), पाखो (पक्ष:), शूरो (शूर:), कुखड़ो (कुक्कुट:)।

[४] **य तथा व ध्वनि के पूर्व स्वर के साथ हुए संयोग से,**

परचो (परिचय), कोदो (कोद्रव,) मल्यों (मलय)।

[५] **उ, ऊ से,**

सत्य यह है कि **उ** तथा **ओ** ध्वनि परस्पर परिवर्तनीय हैं। गढ़वाली में शब्द के अन्त में जब ये ध्वनियाँ होती हैं तो इनका ऊ अथवा ओ उच्चारण दोनों चलते हैं, जैसे जाणो, जाणू, कोदो, कोदू आदि। शब्द के प्रारम्भ में भी कभी इस प्रकार के परिवर्तन उपलब्ध हो जाते हैं, जैसे, समोदर (समुद्र), ओदर (उदर)।

उ, ऊ की ओ में इस प्रकार की परिणति प्राय: संयुक्त व्यंजनों के पूर्व होती है :

तोमी (तुम्बक), कोख (कुक्षि), कोड़ (कुष्ठ), मोल (मूल्य)।

[६] **प्रा० भा० आर्यभाषा की अ ध्वनि से,**

चोंच (चंचु), मोंळ (मल) आदि।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि गढ़वाल के कुछ भागों में **अ** का उच्चारण कुछ **ओं** का सा होता है, बड़ा : बोंडा।

§४३. औ ध्वनि का मूल :

[१] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के औ से,**

गौ, गौड़ी।

[२] **प्राचीन आर्य भाषा के अव या आव से,**

औत (आवर्त), लौंग (लवंग), भौन (भवन), उच्छौ (उत्सव), जौ (यव), सुभौ (स्वभाव)।

[३] **शब्द के मध्य में आने वाले प, म, व से,**

सौत (सपत्नी), औतो (अपुत्रक), कौंळ (कमल), गौंत (गो मूत्र)।

[४] **मध्य में त् के लोप हो जाने पर अ तथा उ के संयोग से,**

चौंरी (चत्वारिका); चौक (चतुष्क), चौथो (चतुर्थ), कौंळ (कुन्तल), बौळो (बातुल)।

§४४. स्वर-परिवर्तन

प्राकृत और अपभ्रंश तक आते आते प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा ध्वनि संबन्धी अनेक परिवर्तनों से होकर आगे बढ़ी है। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं को ये परिवर्तन उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं। गढ़वाली में इस प्रकार के अनेक परिवर्तन स्वरों के पारस्परिक विनिमय, दीर्घीकरण, ह्रस्वीकरण, स्वर संकोच, संप्रसारण, स्वरभक्ति आदि रूपों में हुए हैं। स्वरों की उत्पत्ति संबन्धी अध्ययन से यह स्पष्ट हैं।

गढ़वाली में प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्य भाषा के अनेक स्वर निर्बल होकर लुप्त हुए हैं। कइयों का बहुत ही अस्पष्ट, अपूर्ण तथा लुप्त होता हुआ उच्चारण बड़ी कठिनाई से पकड़ में आता है। स्वराघात के कारण स्वर-लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

§४५. आदि-स्वर

गढ़वाली में आदि स्वर प्रायः सुरक्षित मिलते हैं, किन्तु स्वराघात मुख्य अचों पर न होने के कारण ह्रस्व को प्राप्त होती ध्वनियां प्रायः लोप हो गई हैं।

बासो (आवास), **हार** (आहार), **हंकार** (अहंकार), **सीक** (इषीका), **गुंठी** (अंगुष्ठिका), **कट्ठा** (एकस्थित), **नाज** (अनाद्य), **हरगण** (अहर्गण), **जी** (आर्या), **इति** (ति=काटी' ति किवाई), **रण-बण** (अरण्य)।

स्वराघात के कारण जहां स्वर लुप्त नहीं होता, वहां कहीं हकार और लकार का आगम होता है :

लिक्खू (इक्षु>इक्खु), **हबास** (अभ्यास), **लट्ठी**; **हौर**।

जैसा कि स्वरों की उत्पत्ति संबन्धी अध्ययन से स्पष्ट है, गढ़वाली में आदि स्वर में इन रूपों में परिवर्तन हुए हैं :

१. संयुक्त व्यंजनों के पूर्व प्रयुक्त आदि स्वर दीर्घ हो जाते हैं : भक्त>भात; भिक्षा>भीख ।

२. स्वराघात के अभाव में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं : सूर्य>सुर्ज,सौभाग्य>सुआ'ग, आलस्य>अ'ळसो ।

३. ओ औ स्वर ज्यों के त्यों मिलते हैं। फिर भी स्वराघात के कारण ह्रस्व हो जाते हैं और कभी उ में परिणत हुए मिलते हैं।

४. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ स्वर एक दूसरे के स्थानापन्न बने भी मिलते हैं : वायु>बाई, विन्दु>बुन्द,वेन्दु । उदर>ओदर ।

५. उद्‌वृत स्वर अ, आ, इ, उ अपने पूर्व स्वर से मैत्री कर लेते हैं, सपत्नी>सौत, नाम>नौं, खदिर>खैर, मोहित>म्वै'त,वधिर>बैरो । मध्यम व और य भी पूर्व स्वर से मैत्री कर लेते हैं जैसे, धवल>धौळो, भय>भै, भवन>भौन ।

§४६. मध्य-स्वर

गढ़वाली में मध्य स्वर लोप के जो उदाहरण मिलते हैं, वे उसे भारतीय आर्य भाषा के मध्य कालीन विकास से उत्तराधिकार में मिले प्रतीत होते हैं। साधारणतः उनमें अ, आ का लोप मिलता है। इ ध्वनि या तो निर्बल अथवा अति ह्रस्व हुई मिलती है या उद्‌वृत्त स्वर के रूप में वह पूर्व स्वर से मैत्री कर लेती है : भगिनी>बैण, बइँण, प्रहर>पअँर। इसके विपरीत स्वराघात के कारण दीर्घ ई ह्रस्व हो जाता है : इस्सुर> ईश्वर, पिड़ा<पीड़ा ।

य और व श्रुति के कारण मध्य स्वर पूर्व स्वर के संपर्क में आ जाते हैं। मध्य की ऋ ध्वनि लुप्त हो जाती है। मातृ+पुत्र>माबत; रमण+सदृश>रौंस । ए तथा ओ के लोप के उदाहरण विरल होते हैं। स्वर भक्ति के कारण अ, इ, उ स्वरों का आगमन विशेष होता है।

§४७. अन्त्य-स्वर

पदान्त स्वरों का उच्चारण गढ़वाली में या तो पूर्णतः विलुप्त हो गया है या वह ह्रस्व की ओर उन्मुख हो गया है। कई पदों में लुप्त होती या ह्रस्वत्व को प्राप्त हुई ये क्षीण ध्वनियां केवल सतर्कता से ही सुनी जा सकती हैं। अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण की यह प्रवृत्ति नवीन नहीं है। यह प्रवृत्ति संस्कृत, पाली और प्राकृत से चली आ रही है। अपभ्रंश में इसका प्राधान्य है। गढ़वाली में विशेषतः रवाँल्टी में, इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं : देखिअ', करीइ' [इनु करीइ' (क) जायान]; करे', निच्छैं', राति'।

कुछ अवस्थाओं में अन्त्य अ का लोप एक सामान्य प्रवृत्ति है : धरम्, करम्, घाम्, दान्, राज्, घात्।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का **आ** गढ़वाली में लुप्त होकर अथवा ह्रस्व होकर **अ** रूप में मिलता है, जैसे,

आश (आशा), घीण (घृणा), बात (वार्ता), रीष (ईर्ष्या); हींस (हिंसा), सूर (सुरा), ढीट (दृष्टि)।

इ, ई के लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं : उकरांत (उत्क्रान्ति) संकरांद (संक्रान्ति), वणांग (वनाग्नि), शूच (शुचि), तीथ (तिथि), व्याद्द (व्याधि), कोख (कुक्षि), भीत (भिंत्ति), साख (साक्षी), स्वैण (स्वामिनी), कश (कीदृशी), आदि।

उ, ऊ के लोप के उदाहरण विरल हैं। सामान्यतः **ओ** ह्रस्व होकर **उ** हो जाता है। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति सामान्य है : देवः=देवो > देवु। गढ़वाली में अन्त्य स्वर के रूप में इस ध्वनि का प्राधान्य मिलता है।

ए तथा **ऐ** ध्वनियाँ भी कम लुप्त हुई हैं। संस्कृत की अधिकरण कारक की विभक्ति के रूप में भी यह ध्वनि कहीं सुरक्षित मिल जाती है, यथा, मथे (मस्तके), तथैं (तत्स्थाने) आदि।

§४८. स्वरागम

गढ़वाली में स्वरागम अ, इ, उ के रूप में हुआ है :

[१] अ : अस्तुति (स्तुति), असनान (स्नान), अस्यो (स्वेद), अस्थिर (स्थिर), अस्थान (स्थान), अक्षमा (क्षमा), करम्, धरम्, रतन्, भगत्, रगत् बरत्, कुरम् (कूर्म), असतम (स्तम्भ) ।

[२] इ : सुकिलो (शुक्ल), सुपिनो (स्वप्न), इस्तुति (स्तुति), नरीम (नर्म), भगीत (भगत), रगीत (रक्त), पियार (प्यार), इश्लोक (श्लोक), उद्दिम (उद्यम) ।

[३] उ : दुवार (द्वार), सुमरण (स्मरण), जुवानी (जवानी), चुवानी (चवन्नी), वेसुवा (वेश्या), आंजुळी (अंजली) ।

यह स्वरागम तीन अवस्थाओं में हुआ है, स्वर के प्रारम्भ में, स्वर के मध्य में, तथा स्वर के अन्त में । अन्त्य स्वरागम के उदाहरण अधिक नहीं मिलते पर उसका सर्वथा अभाव नहीं है, जैसे जूं : जुंवाँ । इसके अतिरिक्त संस्कृत के अधिकांश हलन्त शब्द रवांल्टी में सस्वर उच्चारित होते हैं, जैसे, काणसो (कनीयस्), सत (सद्) ।

§४९. स्वराघात

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में गीतात्मक स्वराघात प्रधान था। गढ़वाली में आज भी गीतात्मक स्वराघात के अवशेष विद्यमान हैं। चन्द्रवदनी के निकट के चुरेड़ों, या नागपुर सलाण और टिहरी नगर के लोगों की बोल-चाल में इसी संगीतात्मक लोच के दर्शन होते हैं । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में कुछ प्राकृतें ऐसी थीं, जो वैदिक गीतात्मक स्वराघात को अपनाए थीं ।[१] टर्नर ने भी इसका समर्थन किया है । गढ़वाली में यह स्वराघात वाक्यगत ही अधिक होता है । प्रश्न; आज्ञा, विस्मय,अनुरोध, घृणा, स्नेह, उलाहना,

---

१ डॉ० धीरेन्द्र : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० २१८

असमर्थता, दीनता, सम्बोधन आदि भावों को व्यक्त करने के लिए वाक्य में स्वराघात का गीतात्मक रूप प्रयोग में आता है। दूसरी बात यह है कि प्लुत, निर्बल तथा अति ह्रस्व स्वरों और श्रुतियों के कारण ध्वनि के संगीतमय आरोह अवरोह के लिए शब्दों में काफी गुंजायश होती है।

जहां स्वराघात शब्दों पर होता है, वहां बल निश्चित स्वर पर पड़ना चाहिए। अन्यथा एक ही तरह लिखे जाने वाले शब्द अपने सही अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकते। इस प्रकार के शब्दों में स्वराघात उनके अर्थों के अनुकूल ही निर्धारित होता है, जैसे,

ख'ड़ी (खड़ी), खऽड़ी (खरिया), ब'ड़ी (बड़ी), बऽड़ी (बाटिका), ला'ट (लौर्ड : वायसराय), लाऽट (हल का अगला भाग), का'ळो (काला) काऽलो (मूर्ख), खा'ल (खाल), खाऽळ (तालाब), खाण' (खाना है) खाऽण (खान), आ'णो (आना), आऽणो (ताना), क'र (टैक्स), कऽर (करना), ब'ण (बनना), बऽण (वन), आ'ग (अग्नि), आऽग (आगे)

इस प्रकार के उदाहरण गढ़वाली में अनेक हैं। प्रथम वर्ग में स्वराघात प्रथम अक्षर पर है और दूसरे में अन्त्य स्वर पर। फलतः प्रथम स्वर उसमें उच्चारण में सुदीर्घ हो जाता है। स्वराघात के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि जहां अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में व्यंजन ध्वनियों के सस्वर उच्चारण समाप्त होते जा रहे हैं, वहां गढ़वाली में व्यंजन ध्वनि के साथ स्वर वैदिक काल की तरह पूरी तरह उच्चारित होते हैं। कुछ अन्य विशेषताएं यों हैं :

[१] संयुक्त व्यंजनों के पूर्व वर्ती स्वर पर बल पड़ता है, जैसे, र'ज्जा, खा'न्द, पे'न्द, मि'ट्ठो, गि'च्चो, सा'त्तू।

[२] यदि तीन स्वर ध्वनियों का शब्द हो और मध्य की ध्वनि ह्रस्व हो तो स्वराघात मध्य में होता है, जैसे,बिजु'ली, बादु'ली, नक'ली, दग'ड़ी, हैंस'दी।

[३] लुप्त होती अथवा हुई स्वर ध्वनि के पूर्व स्वर पर, म'न्खी, क'मल, च'ट्, अ'प्ड़ो ।

[४] दो अक्षर के शब्दों में स्वराघात पहले स्वर पर होता है : हौ'र (और), द'शा, आ'श, आ'म, आं'ख ।

[५] तीन अथवा अधिक अक्षरों के शब्दों में अन्त के तीसरे अक्षर पर स्वराघात होता है, यदि उससे पहला स्वर दीर्घ हो :

बुरांश', कबिलाश', पराणी,' सुबेदार' ।

व्यंजन ध्वनियाँ

○

§५०. गढ़वाली की अधिकांश व्यंजन ध्वनियां हिन्दी और उसकी बोलियों में पाई जाती हैं। ळ और ण दो उसकी विशिष्ट ध्वनियां हैं। कंठ्य ध्वनियाँ (क्, ख्, ग्; घ्,) का उच्चारण स्थान हिन्दी की अपेक्षा गढ़वाली में कुछ पीछे प्रतीत होता हैं। संभवतः प्राचीन आर्य भाषा में इनका उक्चारण कुछ वैसा ही था। ळ और ण ध्वनि के संयोग में ये ध्वनियां अपने उस प्राचीन रूप का स्पष्ट आभास देती हैं।

§५१. **च** वर्गीय (च्, छ्, ज्, झ) ध्वनियाँ हिन्दी में संघर्षी मानी जाती हैं। गढ़वाली में ये किंचित् अधिक संघर्षी हैं और इनका उच्चारण **ट** वर्गीय ध्वनियों के उच्चारण के स्थान से कुछ पीछे प्रतीत होता है। गढ़वाल के कुछ भागों में, विशेषतः जो जौनसार बाबर के निकट पड़ते हैं, च वर्गीय ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण भी सुनने को मिलता है। हिमाचल प्रदेश की बोलियों, नेपाली और राजस्थानी में भी इस प्रकार का उच्चारण विद्यमान है।

§५२. **ट** वर्गीय ध्वनियां गढ़वाली में भी मूर्धन्य हैं। संस्कृत **ट** ध्वनि भारोपीय **त** का विकास है। गढ़वाली में भी विदेशी शब्दों में **त** के **ट** में परिणत होने के उदाहरण मिलते हैं।

§५३. **त** वर्गीय ध्वनियाँ हिन्दी के समान ही हैं। **थ्** और **ध्**

महाप्राण ध्वनियां हैं, पर उनका महाप्राणत्व गढ़वाली में बहुत हलका प्रतीत होता है।

§५४. **प** वर्गीय ध्वनियां भी हिन्दी से भिन्न नहीं। पर गढ़वाली में उनके उच्चारण में ओंठ हिन्दी की अपेक्षा कुछ आगे बढ़ाने पड़ते हैं।

§५५. **म्, ङ्, ञ, ण्, न्** आदि अनुनासिकों का उच्चारण कोमल तालु से होता है। इनमें म्, ण् और न् ही अधिक प्रयुक्त ध्वनियां हैं। ङ का उच्चारण **गँ** होता है और शब्द के मध्य में कभी यह ध्वनि सुनाई देती हैं: भाङलों। ञ के स्थान को यँ ने ग्रहण कर लिया है, यथा, छुञी, लाञा। किन्तु सत्य यह है कि (ञ संयुक्त व्यंजन के रूप में और ञ पृथक् ध्वनि के रूप में) इनका कोई स्वतन्त्र अस्वित्व नहीं रह गया है।

ण् गढ़वाली में उक्षिप्त परिवेष्टित ध्वनि है। इसका उच्चारण ड़ँ के निकट पड़ता है। हिमाली बोलियों में **न् ण** हो जाता है। ण् से न् हो जाने के उदाहरण विरल हैं। वैसे उनमें ण् और न् दोनों ध्वनियां पाई जाती हैं। ऐसे भी अनेक शब्द हैं जिनमें न् ण् में परिवर्तित नहीं होता। प्राकृत में ण आद्य अक्षर के रूप में भी मिलता है, गढ़वाली में ऐसा संभव नहीं। वैसे प्राकृत में भी आरम्भ में न् लिखने की आज्ञा थी।

न् भी गढ़वाली में अब दन्त्य ध्वनि नहीं रही है। अपने उच्चारण में वह ण् के पास ही है। गढ़वाल के कुछ भागों में, विशेषतः रवाईं-जौनपुर में, **न्** की एक महाप्राण **न्ह** ध्वनि भी मिलती है। हिन्दी की कुछ बोलियों में यह ध्वनि विशेष रूप से पाई जाती है। गढ़वाली न् और न्ह दो पृथक ध्वनियां हैं, जैसे नाती और न्हाति (नास्ति); **न्हान्दों** (जाता है), **न्हानो** (लड़का)।

गढ़वाली में **म्** की अनुनासिकता हिन्दी की अपेक्षा थोड़ा अधिक है। इसकी एक महाप्राण ध्वनि **म्ह** भी कुछ भागों में प्रचलित है। यह ध्वनि शब्द के प्रारम्भ में भी आती है, जैसे म्हैंक, म्हैंना, म्हांद, म्हैंस। मध्य और अन्त में इसका प्रयोग विशेष होता है, बाम्हण, बरम्हा।

§५६. ल गढ़वाली की बहु प्रयुक्त ध्वनि नहीं है। उसमें इसके स्थान पर प्रायः उक्षिप्त परिवेरिष्टत ळ का प्रयोग होता है। ळ ध्वनि संभवतः उस बोली में वर्तमान थी जिसके आधार पर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा बनी।[१] ळ और ल्ह दोनों ध्वनियां वैदिक संस्कृत में प्राप्त हैं।[२] प्राकृत में आकर ल ळ होने लगता था। संस्कृत का ळ स्वर मध्यगत ड का विकसित रूप माना जाता है। गढ़वाली में भी टवर्गीय ध्वनियां और र प्रायः ळ में परिवर्तित हो जाती हैं, यथा, पीड़ा > पिळा, क्रोड़ > कोळ, डेरा > डेळा। पाली और अपभ्रंश में भी इस ध्वनि का प्रयाप्त व्यवहार हुआ है। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में यह राजस्थानी, मराठी, गुजराती, पंजाबी; लहन्दा, सिन्धी और उड़िया में भी पाई जाती है। गढ़वाल के रवाई क्षेत्र में ळ के स्थान पर ड़ का ही प्रयोग होता है, कालो : काळो : काड़ो। उसी तरह कड़ेजो (कलेजा), दाड़ (दाल)।

ल्ह ल की महाप्राण ध्वनि है। आह्वान में यह स्पष्ट सुनाई देती है, जैसे हे ल्ही (हे ली !); उसी प्रकार भेड़ों को पुकारने में, अहयां ल्हे, ल्हे ! सार्थक शब्दों में भी इसका प्रयोग व्यापक रूप से मिलता हैं, जैसे, ल्हैक, ल्हाई, ल्हसक, ल्हास।

ड़ की एक महाप्राण ध्वनि ड़ह रूप में भी सुनने को मिलती है, जिसमें ढ़ की अपेक्षा महाप्राणत्व की मात्रा कम होती है। वास्तव में गढ़वाली में ढ़ का प्रयोग विरल है, उसके स्थान पर ड़ह का ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे हिन्दी—किताब पढ़, गढ़वाली—किताब पड़ह। उसी प्रकार र की महाप्राण ध्वनि र्ह का भी गढ़वाली में प्रयोग मिलता है, जैसे र्है त, र्हान, र्हौत।

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४

२ डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १०४

गढ़वाली की **र्, ड्, ल, ळ** ध्वनियां परस्पर परिवर्तनीय हैं। वैसे र और ड़ का विनिमय बहुत ही विरल है। **र** का **ल** या **ळ** (**न** का **ल** भी जैसे प्राकृत में निम्ब : लिम्ब, गढ़वाली लिम्बू, लंबर, लोट) हो जाता है पर **ल** का **र** रूपान्तर संभव नहीं। र>ल के अनेक उदाहरण मिलते हैं, दरिद्र>दलेद्र, स्मरण>समळूण, निष्कर्म>निखल्म, कंदरिका>कंडाली, शरीर>शरील। **र** और **ल** का यह विनिमय आकस्मिक नहीं है। विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन पृथक् शाखाओं में **र, ल, ळ** के पृथक् रूप प्रचलित रहे होंगे। बाद में एकीकरण से यह शिथिलता आनी स्वाभाविक थी।

ल्ह, म्ह, र्ह, न्ह आदि महाप्राण ध्वनियां सहसा नवीन नहीं हैं। कम से कम परवर्ती अपभ्रंश में ये विद्यमान थीं।

§५७. गढ़वाली में **श्** और **स्** दोनों ध्वनियां मिलती हैं। **ष्** की परिणति या तो **श, स** में हो गई है या उसका उच्चारण ख रह गया है। **ष** का ख उच्चारण संस्कृत काल में ही हो गया था।[1] गढ़वाल के ब्राह्मण आज भी संस्कृत **ष** का उच्चारण **ख** रूप में ही करते हैं। **श** और **स** गढ़वाल में दोनों ही उच्चारण मिलते हैं किन्तु कुछ भागों में लोग केवल **श** को ही बोलते हैं फिर स को ही। रवाईं और कुमाऊं के सीमावर्ती गढ़वाली क्षेत्र में **स** भी **श** हो जाता है, शेष भाग में लोग **श** का उच्चारण भी **स** ही करते हैं। रमोली, उत्तरकाशी आदि क्षेत्रों में **स ह** में परिवर्तित हो जाता है। सिन्धी, राजस्थानी, पछांही, हिन्दी, असमी और पूर्वी वंग का बंगला, मराठी आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

§५८. **ह** ध्वनि सघोष और अघोष दोनों हैं। अघोष ह्, विसर्ग रूप में संस्कृत में विद्यमान था। संस्कृत के विसर्ग युक्त शब्द ओकारान्त (या उकारान्त) होकर गढ़वाली में आए हैं। उनमें **ओ** ध्वनि के पश्चात्

---

१ डॉ० व्यास : **संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११४**

ह॒ ध्वनि अपने पूर्ववर्ती ध्वनि से मिली हुई आज भी स्पष्ट सुनाई देती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं : उर्ध्व:>उब्बोह॒, नौनोह॒, बाळोह॒,गौड़ोह॒। यह ध्वनि राजस्थानी और गुजराती में भी पाई जाती हैं।

शब्द के प्रारम्भ में ह ध्वनि प्रायः सुरक्षित रहती है। रवांल्टी में ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं, जहां प्रारम्भ की महाप्राण ध्वनियां अल्पप्राण हो जाती हैं, यथा, भूमि>बुईं, भाई : बाई । यह प्रवृत्ति संभवत वैदिक संस्कृत में भी थी। गढ़वाली में पदान्त की महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण होकर ही रहती है, जैसे, व्याघ्र>बाग, सांझ : सांज। पर यह नियम केवल सघोष ध्वनियों पर ही अधिक लागू होता है।

मध्य की महाप्राण ध्वनियों में कभी हकार का लोप सा मिलता है। उस अवस्था में ह अपने पूर्व वर्ण से मिल जाता है, यथा, जहर>ज्हैर, लहर>ल्हैर, सहज>स्हैज, वहिर्>भैर; दुहिता>धिया । वहां वह अपने पूर्व वर्ण में महाप्राणत्व ले आता है। किन्तु इससे भी एक भिन्न स्थिति वह होती है, जहां हकार का लोप वर्तनी में तो हो जाता है किन्तु उच्चारण में उसका अवस्थान सूचित होता है । ऐसी ध्वनि को डॉ० चाटुर्ज्या ने आश्वसित या पुनद्रुत कहा है और उसे ['] रूप में प्रकट करने की विधि अपनाई है।[1] गढ़वाली में ऐसी ध्वनि के अनेक उदाहरण हैं : दहन>द'न, प्रहर>प'र। इस प्रकार हकार के लोप से स्वर-विन्यास बदल जाता है।

सत्य यह है वाहरी शाखा की भाषाओं,विशेषतः पंजाबी, हिन्दकी गुजराती, मराठी, बंगला, राजस्थानी, उड़िया और पहाड़ी में महाप्राण एवं हकार के विभिन्न रूप मिलते हैं। गढ़वाली में अनेक शब्दों पर हकार का आगम भी हो जाता है (देखिए : § आदि स्वर)। हकार की विकृति की दृष्टि से डॉ० चाटुर्ज्या ने भारतीय आर्य भाषाओं को

---

१ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या: राजस्थानी भाषा, पृ० २४

दो वर्गों में विभक्त किया है और हिमाली भाषाओं को उस वर्ग में रखा है जिनमें हकार की विकृति नहीं होती ।[1]

§५९. **य** और **व** ध्वनियां क्रमशः ज और **ब** में परिणत हो जाती हैं; किन्तु वे अपने मूल में सुरक्षित भी मिलती हैं। प्राकृत में संस्कृत **य** का दुहरा विकास हुआ है। संस्कृत का स्वर मध्यगत **य** उसमें लुप्त हुआ मिलता है। गढ़वाली में वह पूर्व वर्ण से मैत्री कर लेता है। वास्तव में **य** और **व** के उच्चारण में वैदिक काल में कुछ भेद था, जो बाद में प्राकृत ने अपनाया। संभवतः यही विभिन्न उच्चारण वाला **य** (य अर्द्ध स्वर नहीं) **ज** में परिणत हो गया। इसी प्रकार **व** का उच्चारण भी विशेष रूप से गुरु था।[2] **व** के इसी गुरु उच्चारण का विकास **ब** रूप में हुआ होगा। गढ़वाली में **य** और **व** के ये दोनों रूप मिलते है : यख, जिऊंरा (यमराज), जग्स (यक्ष), याँन, बल्द (वलीवर्द), बैख (व्यक्ति), वेदना (वेदना)। जहां **य** और **व** अर्द्ध स्वर की तरह उच्चारित होते हैं, वहां वे या तो सुरक्षित मिलते हैं या **अ, इ, उ, ए** रूप में परिवर्तित। किन्तु अपने दूसरे विकास में (जिसमें वे व्यंजन ध्वनि का रूप धारण कर लेते हैं) वे **ज** और **ब** हो जाते हैं। इसके विपरीत **ज** के **य** रूप में परिणत होने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, लाजा>लायां, राजन्> राया>राऊ। **य** भी कभी **व** रूप में परिणत हो जाता हैं, जैसे, न्याय> न्याव>न्यौ। प्राकृत में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी।[3]

व्यंजनों की उत्पत्ति

गढ़वाली व्यंजनों की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है :

§६०. क् ध्वनि की उत्पत्ति :

---

१ डॉ० चाटुर्ज्या : राजस्थानी भाषा, पृ० २४

२ डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११४

३ पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण §२५४

[१] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा संस्कृत के क् से,**
कादँ(कर्दम), कट्ठा(एकस्थित),कौलि(केलि),कंडलि < कंदरिका : कंडाळी ।

[२] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के क् तथा कृ से,**
केमू (क्रमुक), कुरोध (क्रोध),किसाण(कृषाण),विकट(विकृत) ।

[३] **प्रा० भा० आ० के स्क, ष्क से,**
कांद (स्कन्ध), चौक (चतुष्क) ।

[४] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के क् से,**
मकड़ा (मर्कटक) ।

[५] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के ल्क और त्क से,**
बक्कल (वल्कल), छिक्कल (शत्कल) ।

[६] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के क्ष् से,**
भीक (भिक्षा), भूक (बुभुक्षा) ।

§६१. ख् ध्वनि का मूल :

[१] **संस्कृत अर्थात् प्राचीन भा० आर्य भाषा के ख् से,**
खल्याण (खलस्थान), खैर (खदिर), खार (एक माप) ।

[२] **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के क्ष् से,**
काख (कक्ष), पाखो (पक्ष), खारो (क्षार), खेम (क्षेम), आखर (अक्षर), खै (क्षय), चोखू (चोक्ष), खीन (क्षीण) ।

[३] **स्वराघात युक्त क् से,**
खुंडो (कुंठा), पाखड़ो (प्रकोष्ठ), खौळ (केलि) ।

[४] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के ष् से,**
बिखोत (विषुवत्), दोख (दोष), बर्खा (वर्षा), भाख्या (भाषा), बिख (विष), निखिद् (निंषिद्ध), पाखंड (पाषण्ड) ।

[५] **प्राचीन भा० आर्य भाषा के स्क, र्क से,**
खांदो (स्कंद), काखड़ी (कर्कटी) ।

§६२. ग् ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] संस्कृत ग् से,

गुण, गोरू (गोरूप), सौंगो (सुगम), सर्ग (स्वर्ग), गीत ।

[२] संस्कृत के ग्र तथा गृ से,

गौं (ग्राम), गास (ग्रास), गैख (ग्राहक) ।

[३] संस्कृत के ग्न से,

लाग (लग्न), आग (अग्नि), नांगो (नग्न) ।

[४] संस्कृत के ग्य से, जैसे,

भाग (भाग्य), जोग (योग्य) ।

[५] संस्कृत ज्ञ ध्वनि के उच्चारण परिवर्तन से,

ग्यान (ज्ञान), जग्य (यज्ञ) ।

[६] संस्कृत के क् से,

सुंगर (शूकर), कागा (काक), अगाश (आकाश), लोग (लोक), डागीण (डाकिनी), गुड्दाळ (कुद्दाल) ।

[७] संस्कृत के क्ष् से,

पग्स (पक्ष), रागस (राक्षस), जग्स (यक्ष), मोग्स (मोक्ष), विरग्छ (वृक्ष), रग्छा (रक्षा) ।

[८] जब श् अथवा स् ध्वनि के पूर्व अनुस्वार होता है तो उसके साथ ग् ध्वनि भी सुनाई देती है जैसे,

संग्सार (संसार), वंग्श (वंश), चांगस (अंग्रेजी : चान्स) ।

§६३. घ् ध्वनि का मूल :

[१] संस्कृत के घ् से, यथा,

घाम (घर्म,) घ्यू (घृत), घात आदि ।

[२] संस्कृत के घ्र से, यथा,

बाघ (व्याघ्र), आदि ।

[३] संस्कृत के द्घ से,

उघाड़णो (उद्घाटन)।

[४] ग् के आगे हकार के अपसरण से,

घर (गृह), घेंटुड़ा (गृह-नीड़)।

§६४. च् ध्वनि का मूल :

[१] प्राचीन भा० आर्य भाषा के च् से,

चौंर (चमर), चित्त, चरण, काँच (काच), चोंच (चंचु)।

[२] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के त्य से,

सच (सत्य), नाच (नृत्य)।

[३] प्रा० भा० आर्य भाषा के छ, च्छ से,

मलीच (मलेच्छ)।

§६५. छ ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] प्राचीन भा० आर्य भाषा के छ् से, यथा,

छत्तर (छत्र), छेणी (छेदनिका), छमना (छलना)।

[२] प्राचीन भारतीय आ० भाषा के श् से,

छेमी (शिम्बा), छंछर>शनिश्चर।

[३[प्राचीन भा० आ० भा० के ष् से,

माणछ (मानुष), मारछो (मारिष), छै (षट्)।

[४] प्रा० भा० आ० के श्च से,

पाछ (पश्च), बिछी (वृश्चिक), छंछर (शनिश्चर)।

[५] प्राचीन भा० आ० भा० के क्ष् से,

छाळणो (प्रक्षालन), छिमा (क्षमा), छुद्या (क्षुधा), छिन (क्षण), लछन (लक्षण) आदि।

[६] प्रा० भा० आ० भा० के त्स से,

उच्छौ (उत्सव), बाछलो (वत्सरूप), माछो (मत्स्य)।

[७] प्रा० भा० आ० के प्स से,

आछरी (अप्सरा)।

§६५. ज् ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] प्रा० भा० आ० के ज् से,

जनम् (जन्म), ज्यू (जीव), जोत (ज्योति), भौज (भ्रातृजाया)।

[२] प्रा० भा० आ० के ज्य से,

जेठ (ज्येष्ठ)।

[३] प्रा० भा० आ० के द्य से,

खाजो (खाद्य), बाजो (बाद्य), आज (अद्य)।

[४] प्रा० भा० आ० के ज्व से,

जर (ज्वर), उज्जाळो (उज्ज्वल)।

[५] प्रा० भा० आ० के ज्ज से,

लाज (लज्जा), साज (सज्जा)।

[६] प्रा० भा० आ० के य् तथा य्य से,

संजोग (संयोग), सेज (शैय्या), काज (कार्य)।

[७] प्रा० भा० आ० भाषा के ध्य से,

संजा (संध्या), मँजे (मध्ये), सुजणो (शुध्य), अळभणो (अवरुध्य), बांजा (बंध्या)।

§६६. झ् की उत्पत्ति :

[१] संस्कृत की झ् ध्वनि से,

झट (झटति)।

झ वास्तव में अप्रधान ध्वनि है। इस ध्वनि के अधिकांश शब्द देशज हैं और अपने मूल में अनुकरणात्मक अथवा ध्वन्यात्मक हैं। कुछ शब्द इस दृष्टि से दर्शनीय हैं :

झुसमुस (उषा), झकझक, झटको, झम, झुमैलो, झूमक, झिमझिम, झनझन, झगड़ा, झट, झ्यासू, झर, झाड़णो, झप, झाबी, झूर झमाको झिलमिल आदि।

शब्द के मध्य में इस ध्वनि का प्रयोग बहुत कम होता है।

बहुधा मध्य तथा अन्त की झ ध्वनि अल्पप्राण होकर ज् में परिणत हो जाती है।

[२] **स्वराघात के कारण ज् के महाप्राणीकरण से,**

ज्वाला (झॲळ), झणो (जनः) आदि।

§६७. ट् ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] **संस्कृत के ट, ट्व, ट्य, ष्ट से,**

खट्ुलो (खट्वा), टुटी (त्रुटच), नाठ (नष्ट)।

[२] **प्रा० भा० आ० भा० की ष्ठ ध्वनि से,**

कोष्ठक (कोठो), साट्टी (षाष्ठिक), ढीट (दृष्टि), सेट(श्रेष्ठ)।

[३] **प्रा० भा० आ० के ठ् से अल्पप्राणित होकर,**

होंट (ओष्ठ), पाट (पाठ), सट्ट (शठ)।

[४] **प्रा० भा० आ० के र्त तथा त्त से,**

निबटणो (निवृत्त), विकट (विकृत) काढणो (कर्तन)।

[५] **प्रा० भा० आ० के त्र से,**

टिकड़ी (त्रिकुटी), टूटणो (त्रुट्)।

[६] **प्रा० भा० आ० के ट्ट से,**

अटाली (अट्टालिका), कुटण्याटी (कुट्टनी), पाटण (पट्टन), हाट (हट्ट)।

§६८. ठ् ध्वनि का मूल :

[१] **संस्कृत के स्त, स्थ से,**

पठाळ (प्रस्तर), ठौं (स्थामन्), पठौणों (प्रस्थान), ठुलो (स्थूल), कट्ठा (एकस्थित)।

[२] **संस्कृत ष्ट, ष्ठ से,**

काठगो (काष्ठक), कोठार (कोष्ठागार), निठूर (निष्ठुर), पूठा (पुष्टाः), मिठ्ठो (मिष्ट)।

[३] **संस्कृत की न्थ ध्वनि से,**

माठो (मन्थर), गांठो (ग्रंथ) ।

[४] संस्कृत की ध्य तथा द्ध ध्वनि से, यथा,

बंठ्या (वंध्या), बाठो (वृद्ध) ।

§६९. ड् ध्वनि का मूल :

[१] संस्कृत के ड् से,

मुंडारो (मुंडारि), डैण (डाकिनी) ।

[२] संस्कृत के ट् से,

कांडो (कंटक) । इस अवस्था में यह ध्वनि ड़ रूप में अधिक मिलती है, जैसे,पुड़खो (पुटक); कूड़ी (कुटी), लाखड़ो (लकुट), कीड़ो (कीट), चूड़ा (चिपिटक), अखोड़ (अक्षोट) ।

[३] संस्कृत ड्, द् ब् से,

डांड(दंड), डांस(दंशक), रूड़(रुद्र), गाड(गाध), बाड़(बाधा) ।

[४] संस्कृत के ठ् से,

बैंड (बंठ), खुंडो (कुंठित) ।

§७०. ढ् ध्वनि की व्युत्पति :

[१] प्राचीन आर्य भाषा के र्द्ध, द्ध से,

ढाई [द्वि अर्द्ध तृतीय], डेढ़ [द्वि अर्द्ध], बढ़णो [वर्धन] आदि ।

ट वर्गीय ध्वनियां गढ़वाली में बहुत सीमित हैं । महाप्राण ध्वनियां तो वैसे भी अल्पप्राण हो जाती हैं । ढ तथा ढ़ तो अति अप्रयुक्त ध्वनियां हैं । ये प्रायः **ड़** तथा **ड** में ही परिणत हुई मिलती हैं । अधिकांश **ट** वर्गीय ध्वनियाँ अनुकरणात्मक हैं और ध्वनि अथवा अनुभूति के कर्कश पक्ष को व्यक्त करती प्रतीत होती हैं । यहां कुछ शब्द दिए जा रहे हैं :

टटाटेर [वैमनस्य], टक् [लालसा], टुप [सिकुड़ना], टप्टप् [टपकना तथा मजबूर], टँणी [तेज पीड़ा], टिप्पस [सम्पर्क], टर्रो [अस्वादिष्ट], ठमठम [ठुमकना], ठसक [चुपके से], ठसाक [हल्का स्पर्श], ठेमास [गर्व], ठेमण्या [बौना], ठकठक,

ठनठन, ठप [रुकना], ठुरणो [ऊंचाई से गिर पड़ना], डम्क, डमाक [आघात], डिमडिम, डमडम, डौंरू, ढोल, ढास [बचाने पर भी स्पर्श हो जाना], ढूँ [पहाड़ की चोटी], ढोस [लम्बी मोटी औरत]। ये शब्द वास्तव में भाषा–निर्माण की प्रारम्भिक प्रवृति का द्योतन करते हैं ।

§७१. त् ध्वनि का मूल :

[१] प्रा० भा० आ० भाषा के त् से, जैसे,

तामो (ताम्र), ताँत (तंतु), भुरत्या (भृत्य), तळा (तल) ।

[२] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के त्र से,

दाती (दात्रिका), रौतेलो (राजपुत्र+ल), गात (गात्र) ।

[३] प्राचीन भा० आर्य भाषा के क्त, तथा प्त से,

भात (भक्त), रीतो (रिक्त), सातु (शक्तु), सूतो (सुप्त), सात (सप्त), नाती (नप्तृक), तातो (तप्त) ।

[४] प्राचीन भा० आर्य भाषा के र्त तथा त्त से,

बातलो (वर्तुल), बात (वार्ता), बाऽत (आर्तव), उदमातो (उन्मत्त), प्रतूत (प्रत्युत्तर), उताणो (उत्तान), विर्त (वृत्त) ।

[५] प्राचीन भा० आर्य भाषा के थ तथा द् से.

क्वात (क्वाथ), सात (साथ), सस्तो(स्वस्थ), सतभौ (सद्भाव), पैंतर्वाँण (पदत्राण) ।

§७२. थ् ध्वनि का मूल :

[१] संस्कृत की स्थ या स्त ध्वनि से, यथा,

थिर (स्थिर), थान (स्थान), थौ (स्थ), थल्लो (स्थूल), थेळ (स्थविर), मथे (मस्तके), नाथि (नास्ति), आथि (अस्ति), थण (स्तन), थुप+ड़ो (स्तूप) ।

[२] संस्कृत की त और त्र ध्वनि से,

वथौं (वात), अमिथ्या (अमित), कौथीक (कौतुक), दाथड़ो

(दात्र), यत्र (यथ), संग्थ (सर्वत्र), अरण्थ (अन्यत्र)।

§७३. द् ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा संस्कृत के द् से,

दिओ (दीप), दुब+लो (दूर्वा)।

[२] संस्कृत के त से,

संगरांद (संक्राति), उकरांद (उत्क्रान्ति)।

[३] संस्कृत के द्र तथा र्द से,

दोण (द्रोण), कोदो (कोद्रव), उणदो (उनिद्र), छेद (छिद्र), करौंदा (करमर्द), आद (आर्द्र), गदा (गर्दभ), चौद (चतुर्दश)।

[४] अल्पप्राणित होकर संस्कृत के ध् से,

अपर्याद (अपराध), व्याद (व्याधि), औखदो (औषधि), सुद्द (सुधि) दाई (धातृ), दूद (दुग्ध)।

[५] संस्कृत के द्व, द्य तथा द्ध से,

सदो (सद्य), नवेद (नैवेद्य), दंदऽ (द्वन्द्व), सराद् (श्राद्ध)।

§७४. ध् ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] संस्कृत के ध् से,

धुवां (धूम्र), धमेली (धम्मिल), धुमैलो (धूमिल)।

[२] संस्कृत द्ध ध्वनि से,

बूध (बुद्धि), विरधी (वृद्धि)।

[३] संस्कृत के ह अनुगामी द तथा ध्व से,

धिया (दुहिता), धुजा (ध्वजा), धुन (ध्वनि)।

§७५. प् ध्वनि का मूल :

[१] संस्कृत के प् से,

पात (पत्र), पौर (पूर्व), परफूल (परफुल्ल), तिरपत (तृप्त)।

[२] संस्कृत के प्र से,

पसारणो (प्रसारण), प'र (प्रहर), पगार (प्राकार), पदान

(प्रधान) पलेउ (प्रलय), पठाल (प्रस्तार)।

[३] संस्कृत के व् अथवा व्य से,

दिप्प (दिव्य), संपत् (संवत्)।

[४] संस्कृत त्म, प्य, प्र से, यथा.

आपड़ो (आत्मन्), रूपा (रौप्य), दाप (दर्प)।

§७६. फ् ध्वनि की उत्पत्ति :

[१] प्राचीन भा० आर्य भाषा संस्कृत के फ् से हुई है,

फळ (फल), फांड।

[२] प्रा० भा० आ० के स्प तथा स्फ से,

फट् (स्पष्ट), फुर्ती (स्फूर्ति), फोड़ (स्फोट), फिलंगारा (स्फुलिंग), फटिग (स्फटिक)।

[ ] प्रा० भा० आ० के प,प्प तथा प्र के महाप्राणत्व से,

पिफळ (पिप्पल), फरपंच (प्रपंच), फरशा (परशु), फांश (पाश)।

§७७. ब् ध्वनि का मूल :

[१] प्रा० भा० आ० के व तथा व्य से, जैसे,

बूध (वृद्धि), बींग (व्यंग), बिथा (व्यथा), बखाण (व्याख्यान), बेळ (वेला), जीब (जिह्वा)।

[२] प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प् से,

कवासी (कर्पासी), ब्यवरी (ब्यापारी), अब्यामान (अपमान), रुबसी (रूपसि), माबत (मातृपुत्र)।

[३] प्राणहीन भ से, जैसे,

गाबणी (गर्भिणी), दाबो (दर्भ)।

[४] प्रा० भा० आ० भा० के व्र, र्व से,

बाम्हण (ब्राह्मण), दूबलो (दूर्वा)।

§७८. भ् ध्वनि का मूल :

[१] प्राचीन भा० आर्य भाषा के भ् से हुई है, जैसे.

भात (भक्त), भड़ (भट्ट), भैरू (भैरव)।

[२] प्रा० भा० आ० भा० के ब् के महाप्राणीकरण से;

भेत्तु (वस्तूक), भैर (बहिर्), भंगजीर (वनजीर)।

शेष ध्वनियां अपने उद्गम में संस्कृत के ही समान हैं। र और ल परस्पर संबन्धित हैं,उसी प्रकार ल और ळ भी। गढ़वाल के कुछ भागों में श,ष>स हो जाते हैं, कहीं इसके विपरीत स और ष भी श रूप में ही मिलते हैं।

§७९. व्यंजन परिवर्तन के रूप

गढ़वाली में व्यंजन परिवर्तन के रूपों में कोई नवीनता नहीं है। अधिकांश परिवर्तन प्राकृत और अपभ्रंश के अनुरूप ही मिलते हैं। गढ़वाली में व्यंजन परिवर्तन की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

१. आदि व्यंजन प्रायः सुरक्षित मिलता है। शब्द में होने वाले आन्तरिक परिवर्तन का उस पर प्रभाव पड़ता है और वह (विशेषतः ऊष्म ध्वनियों के कारण) महाप्राण हो जाता है, जैसे, वस्तूक>भेत्तू, परशु>फर्सा, स्कंध>खांदो, पाश>फांस, स्कम्भ>खामो,। इस प्रकार का महाप्राणीकरण कभी स्वराघात के कारण भी हुआ है : कुंठा> खुंडो, प्रपंच>फरपंच, ज्वल>झऑल, जनः>झणा, कंथा>खंता।

२. आरम्भ का स् किसी अन्य वर्ण से संयुक्त होने पर प्रायः लुप्त हो जाता है, स्थान>थान, थिर<स्थिर, स्थ>थौ, स्तोक>तोक।

३. प्रारम्भ का श् या स् कुछ शब्दों में छ रूप में परिवर्तित मिलता है। वास्तव में छ श का विकसित रूप है। छ और श का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह पाणिनी के सूत्र शशकोटि से स्पष्ट है।[1] गढ़वाली में छ का उच्चारण स, श में ढलता भी मिलता है। लोग छाँछ को छांस कहते मिलते हैं। श>छ के कुछ रूप इस प्रकार हैं : शिम्बा>छेमी, स्पर्शन>छौं, सुधा>छोई, शत्कल>छक्कल, शनिश्चर>छंछर।

---

१ डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११५

४. आरम्भ का **क्ष** **ख और छ** रूप में मिलता है : क्षेत्र>खेत, क्षत>खत्त, खतेणू. क्षेम>खेम, क्षमा>छिमा, छत्र>छत्तर ।

५. आरम्भ के दन्त्य वर्ण कभी मूर्धन्य बने मिलते हैं, जैसे दंड> डांड, दंशन>डँसणो, दृष्टि>ढीट, दुहिता>ड्याँटी,स्थूल>ठुलो,तुम्बरू> टेमरू, दाह>डाऽ, दोल>डोला । मध्य और अन्त का **त ड़** में परिवर्तित हो जाता है : मृतक>मअॅड़ो, पर्वत>पअॅड़, उसी प्रकार ट वर्गीय ध्वनियां **ळ** रूप में मिलती है : दाड़िम>दाळिमो, शकट>शअॅळ ।

६. कई शब्दों में प्रारम्भ में **य** ध्वनि **ज** में परिवर्तित हो जाती है और इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

७. आरम्भ की अघोष महाप्राण स्पृष्ट ध्वनियां जैसी की तैसी सुरक्षित रहती हैं ।

८. मध्य व्यंजन या तो ज्यों का त्यों रहता है या बदल जाता है और बहुत कम परिस्थितियों में लुप्त हो जाता है । गढ़वाली में व्यंजन लोप के उदाहरण अधिक नहीं है । जो शब्द मिलते हैं, वे प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में हैं : नारो>नगर, देई>देवी, सेळू>शीतल, मौल्द>मुकुलित, गैणा>गगन, पयाळ>पाताल । वास्तव में मध्यवर्ती **क, ग, ज, त, प, व** का लोप प्रांकृत में होने लगा था । श्रुति सुख के लिए मध्यक **प** प्राकृत **व** होकर गढ़वाली में **ब** हो जाता है । कहीं वह **उ** रूप में पूर्व स्वर से मैत्री कर लेता है : कार्पासी>कबासी, दीप>दिऊ, शपथ>सौं, अपुत्रक>औतो । यही नहीं, गढ़वाली का **व** भी कभी **प** हुआ मिलता है : दिव्य>दिप्प । मध्य का **म** प्राकृत और अपभ्रंश में **वँ** रूप में मिलता है किन्तु गढ़वाली में वह उँ बनकर पूर्व स्वर से **औं**; **औ** रूप में मिल जाता है : कमल>कौंळ, यमल>जौंळ्या । **व** की अंतस्थ ध्वनि भी इस नियम की अपवाद नहीं है । वास्तव में मध्यग **व्** के ह्रास की प्रवृत्ति का प्रारम्भ अपभ्रंश काल से ही हो गया था ।

९. मध्यवर्ती **ख, घ, थ, ध, फ, भ** ध्वनियाँ प्राकृत और अपभ्रंश

में ह रूप में विकसित हुई मिलती हैं। गढ़वाली में भी कई शब्द इस परम्परा को निभाते हैं। यही नहीं, विकास के अगले स्तर पर उनमें हकार का भी लोप मिलता है : बधिर>बैरो, खदिर>खैर, गम्भीर> गैरों, जंभीर>जैमर ।

१०. मध्य अघोष अल्पप्राण सघोष अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाते हैं। गढ़वाली में मध्यक क प्रायः ग होकर ही रहता है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति थी। संस्कृत में भी कुछ परिस्थितियों में (विशेषतः सन्धि में, दिक्+गज=दिग्गज) क>ग हो जाता है। गढ़वाली में और भी रूप दर्शनीय हैं : डाकिनी>डागीण, आकाश>आगास, रक्त>रगत, शोक>सोग, वर्षाकाल>बसगाळ । ट>ड़=ड : कंटक> कांडो, कुटी>कूड़ी, भट>भड़, घंट>घांड, ककोंक>कंकोड़ा । घ>ड़ : वाधा>बाड़ । त>द : चलति>चलदी । द और द्ध कहीं ठ रूप में भी रूपान्तरित हुए हैं : वृद्ध रवाँल्टी में—वाठो, पुरानी गढ़वाली में वांठो, वंद्या>बंठ्या, बाँठीण ।

११. सघोष वर्ण गढ़वाली में अघोष नहीं होते। यह चूली पैशाचिका या दरद की प्रवृत्ति रही है। पर कुछ शब्द ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, विशेषतः अरबी-फारसी के शब्द, जिनमें द>त रूप विद्यमान है : पदत्राण>पैंतर्वाण, मदद>मदत, जायदाद>जैदात, मदनाचार> मताणचार ।

१२. अन्तिम अर्धस्वर य और व का प्रायः लोप होकर पूर्व व्यंजन पूर्ण हो जाता है : शक्य>सक्क, पुण्य>पुन्न, तत्त्व>तत्त, द्वन्द्व> दंद । य जब तवर्गीय ध्वनियों के साथ संयुक्त होता है तो उसका रूप बदल जाता है : त्य>च, द्य, ध्य>ज: खाद्य>खाजो, छाद्य>छाजो, छिद्यते>छिजण, मध्य>मंजे, नृत्य>नाच, आदि । यह प्रवृत्ति वास्तव में बहुत प्राचीन है ।

१३. गढ़वाली की प्रवृत्ति द्वित्व व्यंजनों के संरक्षण की ओर नहीं हैं। प्रायः दो में से एक ध्वनि का लोप हो जाता है, जैसे उद्घाटन>

उघाड़नो, भक्त : भात, सुप्त : सूतो, पुष्ठाः : पूठा, राष्ट्र : राठ, नस्त : नात; नथ, पश्च : पाछ। म्ब में केवल म ही शेष रहता है,कुटुम्ब> कुटम, उम्बी > ऊमी। परिवर्तन की इस अवस्था में पूर्व व्यंजन प्रायः दीर्घ हो जाता है।

१४. शब्द के मध्य और अन्त में महाप्राण ध्वनियां प्रायः अल्पप्राण हो जाती हैं। प्रायः आद्य अक्षर अल्पप्राण नहीं होता; अन्त्य और मध्यग अल्पप्राण होकर ही रहते हैं।

१५. संयुक्त व्यंजन **क्ष** कहीं **ग्, ग्छ, छ** और कहीं **ख** रूप में आता है : राक्षस : रागस,यक्ष : जाख, रक्षा : रग्छा, क्षार : खार,छारो। अपनी मूलध्वनि क्ष (ग्स) रूप में वह सर्वाधिक मिलता है।

१६. रेफ रूप में **र्** संयुक्त व्यंजनों के साथ प्रायः सुरक्षित मिलता है। अधिकांश शब्दों में वह अपना पूरा रूप ले लेता है : किरिया, करम, कारज,कारिया, समोदर,पवेत्तर,पराण,मुरछा,सरग,शतूर,। **र** के लोप कुछ ही उदाहरण मिलते हैं जैसे,पैणो > प्रदेशन,पासणी < प्राशन, दोण > द्रोण, पाथो > प्रस्थ, पगार < प्रकार, गौं, भौंर, काम, घाम, निन्द, बाम्हण। **द** के साथ संयुक्त **र ल** हो गया है, आर्द्र : आलो, भद्र : भलो। उसी प्रकार **त** के साथ—अन्यत्र : अण्थ, सर्वत्र : संग्थ, यत्र : यत्थ शब्दों में वह **थ** हुआ मिलता है। यही नहीं गढ़वाली में र के आगम के भी कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं—कूष्माण्ड (खिरकेंडो), भोजन (भोरजन), विद्वेष (विरदोसो), उदूखल(उरख्याळो)। वास्तव में **र** का आगम प्राकृतमें था और बाद में अपभ्रंश में भी उसका अभाव न था।

§८०. इस सन्दर्भ में व्यंजन विपर्यय के कुछ रूप भी दर्शनीय हैं : गुरौ (उरग), बाउत (आर्त्तव), लगुली (गुल्मिनी), जिया (आर्या), मतबल, पिच्चाश (पिशाच), विराळो (विलार), हलुको (लघुकः), बळ्यूं (बदल्यूं)।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि गढ़वाली में व्यंजन परिवर्तन के रूप प्राकृत और अपभ्रंश से भिन्न नहीं हैं। इतना अवश्य है कि कुछ प्रवृत्तियों के अब गढ़वाली में अवशेष मात्र रह गयेहैं। व्यवहार में अब वे कम रह गई हैं। उदाहरण के लिए व्यंजन लोप की प्रवृत्ति गढ़वाली में नहीं है। संयुक्त व्यंजनों में व्यंजन लोप की अपेक्षा स्वर भक्ति से अधिक काम लिया जाता है। उसी प्रकार दन्त्य वर्णों के मूर्धन्य बनने, त वर्गीय ध्वनियों का ज में परिणत होने आदि की विशेषताएं गढ़वाली में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की तरह व्यापक नहीं हैं। गढ़वाली में घोष महाप्राण ध्वनि मध्य और अन्त में अल्प प्राण हो जाती हैं। प्राकृत या अपभ्रंश के लिए यह बात उतने महत्व की नहीं है।

रूप-तत्व

संज्ञा के रूप

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के मध्यकालीन विकास में ही संज्ञा के रूपों में परिवर्तन होने लगे थे। गढ़वाली में संस्कृत की अनेक प्रवृत्तियां सुरक्षित मिलती हैं; किन्तु अन्य नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की भाँति उसमें भी सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक है।

१. लिंग

§८१. गढ़वाली में दो ही लिंग होते हैं। नपुंसक लिंग नहीं होता। लिंग निर्धारण का आधार मूलतः प्राकृतिक लिंग भेद ही है। इसके अतिरिक्त वस्तु या व्यक्ति में आकार का गुरुत्व अथवा लघुत्व भी लिंग भेद का कारण बना प्रतीत होता है। इस दृष्टि से कभी प्राकृतिक लिंग तथा व्याकरणिक लिंग का अध्ययन बड़ा रोचक है। उदाहरण के लिए, स्त्री के लिए **जनाना** तथा **जनानी** शब्द का व्यवहार होता है। दोनों शब्द मूलतः एक ही हैं, किन्तु जनाना व्याकरण से पुलिंग है, और **जनानी** स्त्रीलिंग। **जनाना** में पुलिंग का आरोप आदर प्रदर्शन के लिए हुआ है। इसी प्रकार, **घरवाली** शब्द आदर प्रकट करने के लिए '**वाला**' का पुलिंग रूप धारण कर लेता है, जैसे, वेकी घरवाळी (सामान्यतः), वे का **घरवाळा** (आदर से)। उसी प्रकार हिन्दी में **बकरा** पुलिंग और **बकरी** स्त्रीलिंग है, किन्तु गढ़वाली में **बाखरो** बड़ी बकरी और **बाखरी** छोटी बकरी के लिए कहते हैं। बकरे के लिए बोगट्या शब्द का प्रयोग

होता हैं। उसी प्रकार गौ स्त्रीलिंग है किन्तु गढ़वाली में **गोड़ो** पुलिंग शब्द है। प्राकृत में भी यह प्रवृति थी। हेमचन्द्र ने भी **गाउओ** गाओ पुलिंग रूप दिए हैं, जिनके स्त्रीलिंग रूप **गउआ** और **गाई** थे। **गोणो** और **गोणी** भी इसी तरह के उदाहरण हैं। यही दशा पुलिंग समझे जाने वाले कुछ उभयलिंगी शब्दों की है, जिन्होंने गढ़वाली में अपने लिए स्त्री लिंग ढूंढ निकाले हैं, जैसे आदमीण (आदमी से), मनखीण (मनुष्य से), झणी (जन से)। देवता शब्द संस्कृत में आकर पुलिंग बना, पुरानो गढ़वाली में उसका **देवती** स्त्रीलिंग मिलता है। लिंग सम्बन्धी सबसे बड़ी गड़बड़ी आकार की गुरुता और लघुता के आधार पर दो-दो लिंगों के रूप में हुई है। उनके साथ जो क्रियायें तथा विशेषण प्रयुक्त होते हैं वे भी प्राकृतिक लिंग की अपेक्षा व्याकरणिक लिंग से अनुशासित होते हैं। इसी प्रकार, नपुंसक लिंग को भी पुलिंग तथा स्त्रीलिंग में बांट दिया गया है और उनके भी दो लिंग आकार की दृष्टि से विद्यमान हैं, जैसे आंखों, आंखी, लाखड़ो, लाखड़ी, कूड़ो, कूड़ी आदि।

§८२. इन विषमताओं के बीच भी गढ़वाली लिंगों की कुछ प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं :

[१] जीवधारियों के नाम प्रायः उनके प्राकृतिक लिंग के अनुसार होते हैं, जैसे गौ स्त्रीलिंग, बल्द पुलिंग। इसी तरह **भैंसी** स्त्रीलिंग और **बाग** पुलिंग।

[२] सामान्यतः बड़े आकार के पशु पुलिंग और लघु आकार के स्त्रीलिंग में ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त आकार सम्बन्धी भेद के कारण एक ही प्राणी के लिए विभिन्न लिंगों का प्रयोग भी होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वास्तव में गढ़वाली का सारा लिंग भेद आकार पर ही आधारित है। बड़े आकार के सभी प्राणी चाहे वे प्रकृतिक रूप से स्त्रीलिंग में ही क्यों न हों, उनके लिए पुलिंग शब्द भी विद्यमान है। उदाहरण के लिए, **भसो** शब्द पुलिंग है, क्योंकि वह आकार में बड़ा है। **भसो**

कहते हुए भी वह कहने वाला जानता है कि **भैंसी** का प्राकृतिक लिंग स्त्रीलिंग है और उसका प्राकृतिक पुलिंग **बागी** या **झोटा** है, किन्तु **भैंसो** (भैंस) फिर भी आकार की गुरुता के कारण उसके लिए पुलिंग ही है। जब वह **भैंसी** कहता है तो उसका अर्थ आकार की लघुता से ही होता है स्त्रीत्व की भावना से कदापि उसका तात्पर्य नहीं होता।

[३] कुछ जीवधारियों के लिए केवल स्त्रीलिंग शब्दों का ही प्रयोग अधिक होता है, जैसे, घूगती, हिलांस आदि पक्षी। इसी प्रकार कुछ शब्दों के पुलिंग नहीं होते, जैसे, राई, चीणा,काखड़ी, बिच्छी आदि।

[४] कुछ जीवधारियों के लिए केवल पुलिंग का ही व्यवहार होता है, जैसे, कौवा, जुवां, घूघू, मकड़ा आदि।

[५] इसी प्रकार कई तद्भव शब्दों के स्त्रीलिंग नहीं बने। ये शब्द मूलतः संस्कृत में नपुंसक लिंग के अन्तर्गत आते हैं किन्तु व्याकरण से वे पुलिंग ही हैं, यथा, हचूं, घाम आदि।

[६] कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं, जो दोनों लिंगों में एक से रहते हैं, जैसे, भुर्त्या (भृत्य), किसाण (कृषाण) आदि।

[७] प्राणियों के समूह बोधक शब्दों में भी लिंग की एकता नहीं मिलती। वे पुलिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों होते हैं, जैसे, कुटुम (पुलिंग), गोठ (पुलिंग), डार (स्त्रीलिंग), पंगत (स्त्रीलिंग), टोली (स्त्रीलिंग)।

[८] निर्जीव वस्तुओं के निर्णय के लिए कोई एक नियम नहीं हैं। उनका लिंग निर्णय बहुधा उनके स्त्रियोचित अथवा पुरुषोपम गुणों, आकार तथा उनके सम्बन्ध में लोक की धारणा पर आधारित होता है। मुख्यतः कोमलता, सुन्दरता और आकार की लघुता स्त्रीत्व के प्रतीक माने गए हैं। चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त **जोन** शब्द गढ़वाली में इसीलिए स्त्रीलिंग है।

[९] ओकारान्त अथवा ऊकारान्त शब्द प्रायः पुलिंग होते हैं।

यह ओ या ऊ प्रत्यय संस्कृत से आया है जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। किन्तु संस्कृत से आए नपुंसक लिंग के शब्द जब गढ़वाली में आकर पुलिंग बने तो वे सभी ओ या ऊकारान्त नहीं हो सके, जैसे लवणम्>लोण, हस्तम्>हात।

[१०] अधिकांश ईकारान्त तथा संस्कृत के तद्भव आकारान्त शब्द गढ़वाली में भी स्त्रीलिंग ही होते हैं।

[११] बहुत से सर्वनाम दोनों लिंगों में अविकृत रहते हैं। किन्तु केवल अन्य पुरुष में भेद हो जाता है, जैसे पुलिंग वो; स्यो, यो, को, जो स्त्रीलिंग में इन रूपों को धारण कर लेते हैं : वा, स्या, या, क्वा, ज्वा, आदि। और इनके विकारी रूपों में भी अनुनासिक का अन्तर आ जाता है, जैसे, पुलिंग जैन, स्त्रीलिंग : जैंन आदि।

वास्तव में गढ़वाली का लिंग भेद किसी वैज्ञानिक आधार पर अवलंबित नहीं है। इतनी सुविधा अवश्य है कि क्रिया तथा विशेषण के आधार पर संज्ञा के लिंग का निर्णय हो सकता है। केवल कुछ भागों में, विशेषतः भरदार में, लोग पुलिंग के साथ भी स्त्रीलिंग की क्रिया का प्रयोग करते सुने जाते हैं : जैसे, पु० कख छै **जाणू** के स्थान पर स्त्रीलिंग कख छै **जाणी**। किन्तु सामान्यतः गढ़वाली क्रिया तथा विशेषण संज्ञा के लिंग के अनुकूल ही परिवर्तित होते हैं। उत्तम पुरुष के सर्वनाम अवश्य इसके अपवाद हैं। उनके साथ दोनों लिंगों में क्रिया का रूप एक सा ही होता है।

स्त्री-प्रत्यय

§८३. गढ़वाली के स्त्री-प्रत्यय संस्कृत से आए हैं। यहां कुछ प्रत्यय दिए जाते हैं :

[१] ई : क्वांरी, नौनी (लड़की), गैणी (तारिका)।

[२] ईण : नातीण, दोस्तीण।

[३] णी : नातणी, मास्टरणी ।

[४] आण : दोस्त्याण, मास्टरयाण ।

[५] आ : माळा, वंठ्या ।

[६] एली : रौतेली, धौंपेली, गोतेली, पतेली, पटेली ।

[७] उड़ी : मुखुड़ी, दांतुड़ी, छोटड़ी ।

[८] टी : धणोटी, डचाँटी, बमणौटी ।

[९] की : छोटकी, गेंडकी, गोंदकी, बोदगी ।

इन प्रत्ययों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना प्रत्यय विषयक अध्याय में दी जा चुकी है। इनमें से टी, की, ली तथा ड़ी प्रत्यय आकार की लघुता के भी परिचायक हैं। गढ़वाली की रवांल्टी उप बोली में इनका प्रयोग बहुत होता है।

२. वचन

§८४. अन्य नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं की भांति गढ़वाली में भी एक वचन और बहुवचन ही मिलते हैं। अधिकांश ओकारान्त (या उकारान्त) शब्द कर्ता कारक के एक वचन को प्रकट करते हैं। ओकारान्त शब्द गढ़वाली में ही नहीं, केन्द्रीय पहाड़ी की समस्त बोलियों, ब्रज, राजस्थानी, गुजराती और बुंदेली में भी इसी प्रकार मिलते हैं। कर्ता के बहु बचन में ये ओकारान्त शब्द (संस्कृत सु प्रत्यय) गढ़वाली में आकारान्त (संस्कृत अस् प्रत्यय) हो जाते हैं, यथा, नौनो : नौना, कूड़ो : कूड़ा, भैंसो : भैंसा। यह प्रवृत्ति संस्कृत के अनुकूल पड़ती है।

ओकारान्त शब्द, जो बहुवचन में आकारान्त हो जाते हैं, वे पुलिंग होते हैं। स्त्रीलिंग में ओकारान्त शब्द मिलते ही नहीं हैं। किन्तु पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनों के लिए एक से ही बहु वचन के प्रत्यय हैं; केवल अन्तिम स्वर के अनुसार कुछ वैभिन्न्य आ जाता है।

§८५. अतः यह स्पष्ट है कि ओकारान्त शब्दों के बहुवचन उन्हें आकारान्त रूप देने से बनते हैं, जैसे कामळो : कामळा; बाळो : बाळा, ताळो : ताळा, बाटो : बाटा ।

शेष स्वरों से अन्त होने वाले सभी शब्द (चाहे वे किसी लिंग के हों) कर्ता कारक के एक वचन तथा बहु बचन में अपने मूल रूप से परिवर्तित नहीं होते, जैसे, नौनी (एक वचन), नौनी (बहु वचन), ब्यौऊ (एक वचन), ब्यौऊ (बहु वचन,। किन्तु जब इन शब्दों के विकारी रूप बनते हैं तब बहुवचन में रूप बदल जाते हैं ।

एक वचन : नौनीन खाये : लड़की ने खाया । बहु वचन : नौन्योंन खाये : लड़कियों ने खाया ।

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि विकारी रूप का बहुवचन प्रत्यय ईकारान्त शब्दों में **औं, यौं** है । उसी प्रकार आकारान्त, उकारान्त, औकारान्त आदि शब्दों में भी इसी प्रत्यय के संयोग से बहुवचन के रूप बनते हैं, जैसे मामान (मामा ने) मामौंन, चाचौंन, भायोंन । ऐकारान्त शब्दों के साथ यश्रुति के दर्शन होते हैं. बैन. बैयोंन, कैन, कयौंन आदि ।

§८६. अकारान्त शब्द जब विकारी रूप में साथ आते हैं तो उनमें भी बहुवचन के रूप में एक वचन से भिन्न होते हैं । पुलिंग शब्दों के साथ उ जुड़ जाता है और स्त्री शब्दों के साथ ई, जैसे घर(एकवचन, पुलिंग) से घरू (बहु वचन) तथा किताब (एक वचन से कितावी (बहु वचन) । ये वास्तव में विकारी रूप हैं ।

इस प्रकार बहुवचन का विकारी प्रत्यय **औ** कर्त्ता कारक को छोड़कर शेष सभी कारकों में आता है । उस दशा में उससे पूर्व का स्वर लुप्त हो जाता है या उसी से संधि कर लेता है । इस **औ** की व्युत्पति स्पष्टतः **अनाम्** से हुई है ।

गढ़वाल के प्राचीन लोक गीतों में **ना** बहुबचन का प्रत्यय है, जैसे,

ऋणुना को शेष (ऋणों का शेष), ऋतुना को औणो (ऋतुओं का आगमन)। इस **ना** की उत्पत्ति भी संस्कृत **अनाम्** से ही संभव है। बहुवचन का यह **न** प्रत्यय ब्रज, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी और बंगला में भी मिलता है।

§८७. इसके अतिरिक्त गढ़वाली में वचन सम्बन्धी कोई विशेषता नहीं है। अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की भांति ही उसमें आदरार्थ प्रयुक्त संज्ञायें बहुवचन मानी जाती हैं। आदर प्रदर्शन और बहुत्व की सूचना के लिए संबन्ध—सूचक शब्दों के साथ **और** तथा **काँ** जोड़ दिया जाता है, जैसे बाबाओर (पिताजी, या पिताजी तथा अन्य), चाचाओर, बौओर, चाचाकां (चाचा और उनके कुटुम्बी), मामाकां, दादाकां आदि। बंगला में सप्राण संज्ञा शब्दों के साथ प्रयुक्त बहुवचन वाची अथवा समूह बोधक **एरा** और **रा** प्रत्यय इसी तरह के हैं।[1]

समूह वाचक शब्द एक वचन माने जाते हैं। इसके विपरीत बहुत से खाद्यान्न बहुवचन में ही आते हैं, जैसे, गेऊं, जौ, कौणी आदि।

§८८. वहु वचन ज्ञापक शब्दावली

ऊपर के रूपों के अतिरिक्त बहुवचन रूप बनाने के लिए निम्न-लिखित शब्दों का भी प्रयोग होता हैं :

[१] **सब :** तुम सब आन (तुम सब आना।

[२] **लोक :** हम लोक, नौकर लोक, अफसर लोक, आदि।

[३] **भ्रणा :** संस्कृत जनाः का तद्भव है। इससे भी बहुवचन का संकेत किया जाता है, जैसे कामेरू भ्रणा।

[४] **और :** यह संस्कृत अपर से व्युत्पन्न है। इसके प्रयोग के विषय में पीछे लिखा जा चुका है। सम्बन्धसूचक शब्दों में इसका व्यवहार होता है, जैसे, चाचाओर, भैजीओर आदि।

---

१ डॉ० चाटर्ज्याः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १३६

[५] कां : इस प्रत्यय से भी परिचित किया जा चुका है। संबन्ध सूचक शब्दों के साथ इसका प्रयोग मिलता है, जसे, चाचाकां, भैजीकां आदि।

३. कारक

§८९. अनेक नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के समान गढ़वाली में भी संस्कृत की विभक्तियां अब समाप्त हो गई हैं। उनके स्थान पर परसर्गों का ही प्रयोग होता है। इन परसर्गों का प्रवेश भी सहसा नहीं हुआ है। संभवतः सस्कृत में ही वे प्रविष्ट हो चुके थे और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में आकर वे विकसित हुए। गढ़वाली में प्रयुक्त कुछ परसर्ग इस प्रकार हैं :

कर्त्ता : **न अथवा ल**

कर्म : **क, कू, कैं, सणी, खुणीं, छनैं, तैं।**

करण : **न, से या सी, ती।**

सम्प्रदान : **कैं तैं** (तइँ), ले, क, सणी, (हणी)खुणी, **कू।**

अपादान : **न,** ती (ते), **बिटे,** से (सी), पर **न।**

सम्बन्ध : **को,** का, को, र्, रा, री।

अधिकरण : **पर, मा, मु, मंग, मंजे, तनैं, मथे।**

§९०. गढ़वाली में कारक चिन्हों के रूप में अब परसर्गों का ही प्रयोग अधिक होता है, किन्तु जिस भाषा से उसका उद्गम हुआ है उसमें विभक्तियां रही होंगी, इसका आभास स्पष्ट मिलता है। गढ़वाली में संस्कृत की अनेक विभक्तियों के अवशेष विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत की प्रथमा विभक्ति ओकारान्त (>उकारान्त) शब्दों में आज भी सुरक्षित मिलती है। यही प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी। अपभ्रंश में **ओ** क्षयित होकर **उ** हो गया। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं, ब्रज और कोशली में भी यह प्रवृत्ति सामान्य है। **न** परसर्ग का प्रयोग अपेक्षा कृत नवीन है। इसकी व्युत्पत्ति करण की एन विभक्ति से सम्भव

है। कुछ भागों में **न ल** रूप में मिलता है: कैल=कैन।

§६१. **न** (ल) कर्ता के समान ही करण और अपादान का परसर्ग भी है, जैसे **भूकन मरे** (भूख से मरा), **वखन आये**(वहां से आया), **दांतुन खांद** (दांतों से खाता है)। **से** या **सी** करण कारक में अधिक प्रयुक्त होता है। यह परसर्ग शक्ति का प्रतीक है। संभवतः इसका सम्बन्ध **शक्यते** से हो। पर अधिक सम्भावना यह है कि इस की व्युत्पत्ति सम+एन>सएँ>से>सी रूप में हुई है। **सी** के समान ही एक अन्य परसर्ग **तो** (ते) भी है, जो करण और अपादान दोनों कारकों में प्रयुक्त होता है। **तो** (ते) परसर्ग गढ़वाली में ही नहीं, ब्रज, पंजाबी, गुजराती तथा अवधी में भी मिलता है। अपभ्रंश में यह **तण** रूप में वर्तमान है। इसका संस्कृत मूल रूप **तन** रहा होगा। किन्तु **तन** या **तण** परसर्ग का सम्बन्ध गढ़वाली **तनै** से भी सम्भव है। ऐसी दशा में **तो** परसर्ग संस्कृत **तः** से उद्भूत माना जा सकता है। बटि, बाट या, बिटे परसर्ग प्राकृत में **वट्ट** या **वत्त** रूप में आया है। संस्कृत में यह **वर्त्त** रहा होगा। इन परसर्गों के अतिरिक्त, संस्कृत की मूल विभक्ति भी अभी गढ़वाली में अवशिष्ट है। उदाहरण के लिए, **दड** शब्द का सविभक्तिक रूप **दण्डात्** बना। यही प्राकृत में **दण्डाहि** हो गया।[1] गढ़वाली में वही **डंडेई** रूप में मिलता है। उसी प्रकार—वा **घरेई** कख गई: वह घर से कहां गई? प्राकृत में **आओ** या **आउ** विभक्ति रूप भी मिलता है, जैसे पुत्रात्>पुत्ताओ, शीर्षात्>सीसाउ, अरण्यात्>रण्णाऊ।[2] गढ़वाली में भी यह **आउ**, **औऊ**, रूप में प्रयोग में आता है: **घरौऊ** गै वो वण (वह घर से वन गया), **वखौऊ** आये स्यों यख—वह वहां से यहां आया।

§६२. कर्म और सम्प्रदान की विभक्तियां एक सी हैं। संस्कृत में

---

१ पिशल: प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ५२१

२ वही, §३६५

आय जोड़कर सम्प्रदान का रूप बनता है, प्राकृत में वह **अ.अँ** हो गया। गढ़वाली में अन्त्य **अ** की निर्बल ध्वनि के साथ यह विभक्ति आज भी मिलती हैं, जैसे, **नौनाअँ** बोला—लड़के को कहो। बाद अँ ध्वनि के घिस जाने के कारण **क, कू, तई, सणी** आदि परसर्गों की आवश्यकता अपरिहार्य हो गई। **क, कू** परसर्ग अपभ्रंश में **केहिं किह** रूप में विद्यमान थे। गढ़वाल के कुछ भागों में **कौं** या **कैं** भी प्रचलित है, जैसे त्वै **कैं**। यह **कैं** ब्रज और अवधी **कँह, कहुँ** की बिरादरी में बहुत निकट पड़ता है। इसकी व्युत्पत्ति **कक्षं** से मानी गई है, पर कृते से भी सम्भव है। उसी प्रकार **ताईं** (तैं, तईं) को तरिते और **लाई** (ले) को लग्ने या लब्धे व्युत्पन्न माना जाता है। **सणी** (छनी) और **खुणी** (कुणी, कणि) अपभ्रंश में **सञो** और **कणे** रूप में मिलते हैं। डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने **सणी** की व्युत्पत्ति सत्तें से मानी है।[1] ब्रज और अवधी में सन और सों रूप मिलते हैं जो **संगे** या **सम्म्** से निकले हैं। **खुणी** कणें का ही विकसित रूप है। अन्य परसर्गों में खातर, बाना (कारण) निबत (निमित्त) का प्रयोग भी यदा कदा होता है।

§९३. अधिकरण कारक संस्कृत और प्राकृत में **ए** में समाप्त होता है। गढ़वाली में **मथे** (मस्तके), **मँजे** (मध्ये) जैसे शब्द उसकी स्मृति दिलाते है। अपभ्रंश में **ए** वाला रूप इकारान्त हुआ है। गढ़वाली में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे : तले>तळि, कुक्षे>कोखि। **स्मिन्** वाले **रूप** प्राकृत में **म्मि** हो गए हैं। गढ़वाली में मि या **म्** मिलता है, जैसे : घरमि (घरमू) चला। इनके अतिरिक्त, एक बहु-प्रयुक्त विभक्ति **हि, हिं** भी पुरानी गढ़वाली में हूँ रूप में सुनने को मिलती है, यह अपभ्रंश में भी थी और ब्रज और अवधी में यह विशेष रूप से प्रचलित है। राजस्थानी में यह **ए** रूप में मिलती है। यह संस्कृत **भिः** से व्युत्पन्न है :

---

१ **डॉ० जोशी, टिप्पणी, प्रा० भा० व्या० पृ० ५२५**

गुरुभिः>गुरुहि, गढ़वाली में गुरुइं। इसी प्रकार, चाचाइँ; राणी इँ; तैंइँ जाण द्या। बहुवचन में इसका रूप ऊँ मिलता है : तरुभ्यः>तरहुँ; गढ़वाली में, नौनऊँ बुलावा। ये विभक्तियां प्राकृत आण और अपभ्रंश हि के सहयोग से साध्य हैं। हि वाला रूप अधिकरण में गढ़वाल में भी मिलता है, जैसे, कथइँ, जथइँ, घरैइ। तस्मिन्>तम्हि>बैइँ (घर तबैं)। इस कारक में सबसे अधिक परसर्गों का प्रयोग मिलता है : मु, मा, मंजे (मध्ये) मंग, पर, उब्बो, उन्दो ओज, तनैं, जनैं (घर जनैं या तनैं छन चलणा), मथे आदि।

§९४ सम्बन्ध कारक में **को, का, की** परसर्ग हिन्दी के ही अनुरूप है, किन्तु रवांल्टी में **र, रा, री** का भी प्रयोग मिलता है।[1] बंगला और राजस्थानी इनके प्रयोग के लिए विशिष्ट हैं। अपभ्रंश में **कर** परसर्ग मिलता है। गढ़वाल के कुछ भागों में उसी के अनुरूप लोग **करों** या **करो** कहते सुने जाते हैं, जैसे, चाचा **करौऊँ** डेरो : चाचा का घर। परसर्ग के अतिरिक्त संस्कृत की विभक्ति का अवशेष भी गढ़वाली में सहसा लुप्त नहीं हुआ है। सम्बन्ध की अस् विभक्ति का विकास इस प्रकार रहा है : कामस्य>कामास>कामाह। यही आह बाद में अपभ्रंश में **हो** रूप में मिलता है, स्वामिकस्य>समिअहो। गढ़वाली में यह **औअ** रूप में विद्यमान हैं, जैसे **कामौअँ** आदमी—काम का आदमी। **सांपौअँ** दूळो—सांप का बिल।

§९४. सम्बोधन में बहुवचन शब्द औंकारान्त हो जाते हैं और एक वचन में आकारान्त। यह प्रवृत्ति प्राकृत में भी है और अपभ्रंश में अन्त में **हो** जोड़ने का विधान है। यही **हो** गढ़वाली में **ओं** रूप में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त दूसरी विशेषता यह है कि उच्चारण में अन्त्य स्वर लुप्त हो जाता है।

§९५. कभी-कभी एक ही कारक की दो विभक्तियां और परसर्ग

---

१ गोविन्द चातक : गढ़वाली लोकगीत, पृ० ११३-२७

एक साथ प्रयुक्त हुए मिलते हैं। उसमें विभक्ति लोप सी होती है और परसर्ग उसका स्थान लेने को तत्पर दिखाई देता है, जैसे, काम का आदमी—**कमौऊ कू** आदमी। इसके अतिरिक्त दो विभिन्न कारकों के परसर्ग भी एक साथ संयुक्त दिखाई देते हैं, जैसे, डाळा **पर न** पंछी उड़े:—वृक्ष पर से पक्षी उड़ा। नौन्यों **मंजेन** तू सबती स्वाणी छै—लड़कियों **मेंसे** तू सबसे सुन्दर है। चुल्ला **मा को** खाणो—चूल्हे में का खाना। काँठु **मंजे** की जोन—शिखर **पर की** ज्योत्स्ना।

इस प्रकार के उदाहरण हिन्दी की बोलियों में तो मिलते हैं, पर साहित्यिक हिन्दी में ऐसे प्रयोगों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

सर्वनाम

§९६. गढ़वाली में प्रयुक्त सब सर्वनाम संस्कृत से आए हैं। केवल प्राकृत और अपभ्रंश की अवस्थाओं को पार कर आने के कारण उनमें कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुए हैं। गढ़वाली में भी उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में (सम्बन्ध कारक के रूपों को छोड़कर) अन्य पुरुष के सर्वनाम स्पष्टतः अलग-अलग लिंगों का बोध कराते हैं, जैसे, वो (वह पुरुष), वा (वह स्त्री) आदि। वास्तव में, गढ़वाली उत्तम और मध्यम पुरुष के रूपों को छोड़कर सब सर्वनामों के स्त्रीलिंग और पुलिंग दोनों रूप मिलते हैं। हिन्दी में अन्य पुरुष में स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग सर्वनाम नहीं हैं। गढ़वाली में अन्य और मध्यम पुरुषों में क्रिया भी सर्वनाम के लिंग-वचन के अनुसार चलती है, किन्तु उत्तम पुरुष में क्रिया लिंग भेद का द्योतन नहीं करती, जैसे : मैं खान्दू (मैं खाता हूं या खाती हूँ)।

§९७. सर्वनाम तथा संज्ञा की विभक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। कारकों के बिभिन्न रूप बताने के लिए उन्हीं परसर्गों का प्रयोग होता है।

उत्तम पुरुष सर्वनाम

	एक वचन	बहुवचन
अविकारी कर्ता :	मैं; आऊं; मई, मी, मिं	हम, हमु

विकारी सम्बन्ध : **मेरो, मेरी (म्यारो, म्यारी)** हमारो **हमारो**

उत्तम पुरुष के एक वचन में अनेक रूप मिलते हैं। इनमें **आऊं** सबसे प्राचीन है। यह केवल पूर्वी रवांल्टी में और वह भी प्राचीन लोक गीतों में मिलता है, अन्यथा वह लुप्त होता जारहा है। इसका स्थान अब **मु** तथा **मुई** ले चुके हैं। **आउं** स्पष्टतः अहम् या अहकं से व्युत्पन्न हैं। ब्रज में यह हौं रूप में मिलता है। अपभ्रंश में यह **हऊं** रूप में आया है। **मइं** का प्रयोय अपभ्रंश में भी मिलता है। जानपदीय बंगला, असमी में मुई तथा सिंधी में मुं का प्रयोग प्रचलित है। गढ़वाली में मु अथवा मुई का सम्बन्ध भी उनके समान ही **मया** (अस्मद् तृतीया के एक वचन के रूप)से है। **मईं** और **मि** रूप प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में उपलब्ध हैं। गढ़वाली में हिन्दी की भांति **मुझ** और **तुझ** रूपों का प्रयोग नहीं होता। सर्वनाम के साथ कर्म का परसर्ग जुड़कर उनके भाव को व्यक्त किया जाता है, जैसे, मैंक (मया कृतं), आउंक (अहम् कृतं)। **हम** और उसके सम्बन्ध कारक के रूप हिन्दी के ही अनुरूप हैं और उनकी व्युत्पत्ति निर्धारित हो चुकी है।

मध्यम पुरुष सर्वनाम

§९८ मध्यम पुरुष सर्वनाम के निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

अविकारी :	**तू, ताऊं** (ए॰व॰)	**तुम**
विकारी :	**तेरो, त्वै**	**तुमारो**

तू सभी नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में मिलता हैं। इसकी व्युत्पति हिन्दी में विद्वानों ने भी मै के समान ही त्वया से दी है।[1] गढ़वाली में तू का विकारी रूप **त्वै भी** मिलता है, जिसकी उत्पत्ति त्वया से ही साध्य हो सकती है। डा॰ चाटुर्ज्या ने तू की ब्युत्पत्ति त्वम् से निर्धारित की है। गढ़वाली त्वै और तू को देखते हुए कह सकते हैं

---

१ **डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २८२**

कि **तू** की उत्पत्ति **त्वया** की अपेक्षा संस्कृत **त्वम्** से हुई है। **त्वया** से केवल विकारी रूप **त्वैं** की उत्पत्ति सम्भव है। **तू** के अनुरूप प्राकृत में **तुह, तुम** या अपभ्रंश में तुहुं रूप मिलता है। रवांल्टी में प्रयुक्त **ताऊ** इसके (और संस्कृत त्वम् के) सर्वाधिक निकट पड़ता है। उसी प्रकार कर्म और करण में **तुए** और **तइँ** और तुई रूप गढ़वाली **त्वैं** या **तोई** के अनुरूप ही हैं। **तुम की** व्युत्पत्ति डा० सक्सेना ने प्राकृत **तुम्हे से** निर्धारित की है[1] और फिर अस्मे के साहश्य पर उसकी कल्पना की है। हमारो-तुमारो रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मत भेद नहीं है। कर्म कारक में गढ़वाली में हिन्दी **तुझको** से भिन्न रूप सम्पन्न होते हैं। रवांल्टी में ताउंक (त्वम् कृतं) रूप प्रचलित है। शेष गढ़वाल में **तौइक** अथवा **त्वैक** या कभी विभक्ति हीन **त्वै** का प्रयोग मिलता है ।

अन्य पुरुष

§९९. गढ़वाली में भी अन्य पुरुष के रूप परोक्ष अथवा दूरत्व निर्णय सूचक सर्वनामों के ही अनुरूप होते हैं। वास्तव में अन्य पुरुष के सर्वनामों का स्थान दूरवर्ती निश्चय-वाचक ने ले लिया है।

निश्चय वाचक सर्वनाम

§१००. दूरवर्त्ती निश्चय वाचक सर्वनाम गढ़वाली में **ओ** अथवा **वो** तथा **वा**(स्त्रीलिंग)रूप में मिलता हैं। अपभ्रंश में इसका प्रारूप **ओइ** अथवा **ओ** और प्राकृत में **अओ** था। इसकी उत्पत्ति संस्कृत में **अव** तथा प्राकृत के **ओ** जैसे कल्पित रूपों से मानी गई है।[2] डा० सकसेना ने **इ** को निकटवर्ती निश्चय वाचक सर्वनाम और **ऊ** को दूरवर्ती का ध्वन्यात्मक

---

१ **डॉ० बाबूराम सक्सेना : इवोल्यूशन अॅव अवधी, पृष्ठ १६६**

२ **डॉ० चाटुर्ज्या : बेंगाली लैंग्वेज, पृ० ५६६**

प्रतीक माना है।[1] किन्तु इस कल्पना के लिए संभावना होते हुए भी आधार नहीं है। डॉ० उदय नारायण तिवारी ने उसका मूल **असौ** स्वीकार किया है।[2] गढ़वाली में इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

कर्त्ता : **ओ, वो, ऊ** (एकवचन) **ओ, वो, ऊ** (बहुबचन)

सम्बन्ध : **वेको** **ऊं को**

शेष रूप विकारी रूप **वै** (एक वचन) और **ऊ** (बहुवचन) के साथ विभक्तियां जोड़ने से बनते हैं। **वा** कर्त्ता का एक वचन का स्त्रीलिंग रूप है और **वों** बहुवचन का। अन्य कारकों के रूप विकारी रूप **वीं** के साथ विभक्ति के संयोग से बनते हैं।

§१०१. निकटवर्ती निश्चय वाचक के लिए ये रूप मिलते हैं :

अविकारी : **यो** (पु०) **या** (स्त्री०) **ये**' (पु०) **इ**' (स्त्री०)

विकारी : **ये**' (पु०) **ईं** (स्त्री० **यूं** (पु० और स्त्री०)

प्राकृत में **ए. अ, एई** रूप प्रचलित थे। अपभ्रंश में एह, एहु (पु०) और एइ (स्त्री०) रूप मिलते हैं। इसका बहुवचन रूप **ये** भी गढ़वाली के ही अनुरूप पड़ता है।

ईं स्पष्टतः **इयम्** से सम्बधित है। यूं की व्युत्पत्ति**इमम्** अथवा **इमा** से सम्भव है। **यो** की उत्पत्ति यदि **एषः** (एत्) से मान ली जाय तो ये की उत्पत्ति **एते** और पुलिंग **यूं** की उत्पत्ति **एतानि** से माननी होगी। सम्बध कारक के रूप **येको** तथा रवांल्टी में **एइको** बनते हैं जो हिन्दी **इसका** के ही अनुरूप हैं। **एइको** की उत्पत्ति **अस्य** से हुई है जिसके साथ बाद में सम्बन्ध कारक की विभक्ति जोड़ दी गई है। चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पति एत**स्य** से मानते हैं।

§१०२. इन से भी भिन्न कोटि का सर्वनाम **स्यो** (सो) तथा

---

१ **डॉ० बाबूराम सक्सेना : इवोल्यूशन ऑव अवधी।**

२ **हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६३**

स्या (स्त्रीलिंग) है । वास्तव में **स्यो** और **स्या** का प्रयोग प्राचीन गढ़वाली में अन्य पुरुष के अर्थ में मिलता है, किन्तु कालान्तर वह भी निश्चय वाचक सर्वनाम का काम देने लगा । अब इसका अन्य पुरुष का भाव मिटता जा रहा । एक बात इसके सम्बन्ध में यह है कि इसके प्रयोग में आत्मीयता या परिचय का भाव निहित होता है, जैसे : स्या नौनी (वह परिचित लड़की) । पति-पत्नी भी एक दूसरे के लिए इसका प्रयोग करते मिलते हैं : सि' कख गैन—वे–मेरे पति–कहां गये ।

किन्तु निश्चयात्मक सर्वनाम के रूप में **स्यो, सि' स्या** का भाव की दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण स्थान है । **यो** बहुत निकट की वस्तु की सूचना देता है और **वो** बहुत दूर अथवा परोक्ष के लिए प्रयुक्त होता है । किन्तु **स्यो, सि'** दृष्टिगत दूरी (थोड़ी दूर) के लिए आता है । इस प्रकार **स्यो डाळो** का अर्थ होगा : वह पेड़ जो थोड़ी दरी पर है और जो दिखाई भी दे रहा है ।

इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

पुलिंग :	**सु, स्यो, सो** (एकवचन)	**स्ये, स्यी, सि'** (बहुवचन)
स्त्रीलिंग :	**स्या**	**स्यो', सि'**

विकारी रूप करण कारक के एकवचन **तेन** से बना है जो गढ़वाली में **तैन** रूप में मिलता है । विभक्तियाँ इसी **तै** के साथ जुड़ती हैं । बहुवचन में यह **तौं** हो जाता है । **तौं** की उत्पत्ति **तान्** से हुई है । तौं कर्म कारक के बहुवचन का रूप भी है । स्त्रीलिंग में भी विकारी रूप **तौं** ही प्रयुक्त होता है । केवल एकवचन में **तै** के पुलिंग रूप पर अनुस्वार लगाकर **तैं** रूप में स्त्रीलिंग की सूचना दी जाती है । **स्यो** तथा **स्या** स्पष्टतः संस्कृत **के स** तथा सा हैं । **स्यो** तथा **स्या** में **य** श्रुति के आगम को देखते हुए इनके साथ **एव** के संयोग की कल्पना भी की जा सकती है, जैसे, स्यो : स एव, स्या : सा एव । सम्बन्ध कारक में इसके **तैको** या **तेइको** रूप बनते हैं । प्राकृत और अपभ्रंश में भी **सो,**

सु (ए० व०) और **से, सि** (व०व०) का प्रयोग मिलता है। 'हिन्दी' जो है सो ' की भांति ही गढ़वाली में भी सो (सु) वाक्योपन्यासार्थ भी प्रयुक्त होता है, जैसे, सु तुम इनु बोल द्यान।

सम्बन्ध वाचक सर्वनाम

§१०३. इस सर्वनाम के निम्नलिखित रूप मिलते हैं :

मूल रूप : **जो, जु** (एकवचन) **जो, जु** (बहुवचन)
जु, ज्वा (स्त्री०) **जु, ज्वा** (स्त्री०)
सविभक्तिक रूप : **जै** (पु०) **जैं जौं** (स्त्री०) **जौं** (पु० तथा स्त्री०)

प्राकृत में **जु** (पु०, और जीआ, जीई (स्त्री०) रूप उपलब्ध होते हैं। कर्ता का सविभक्तिक रूप **जैन** संस्कृत **येन** के अनुरूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार बहुवचन में अनुनासिकता **म्** के कारण आई हुई प्रतीत होती है। यद्यपि **जै** की व्युत्पत्ति **यभि** और **जौं** की **याभ्याम्** अथवा **येषाम्** से भी (हिन्दी के विद्वानों के मतों का अनुसरण करते हुए) दी जा सकती है, किन्तु हमारी दृष्टि में करण कारक के रूपों से ही विकारी रूप सम्पन्न हुए हैं।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

§१०४. इस सर्वनाम के अन्तर्गत **कोअ** (**कु**) **कूण** तथा **क्या** आते हैं। कूण का प्रयोग केवल रवांल्टी—जौनपुरी में होता है। इनके रूप इस प्रकार हैं :

पुलिंग : कूण, **कोअ** (कु) स्त्रीलिंग : **क्वा**
सविभक्तिक रूप : **कै** (एकवचन) **कौं** (बहुवचन)

अपभ्रंश में भी **काइ** और **कवण** दोनों रूप थे। हिन्दी के **कौन** के समान ही **कूण** की व्युत्पत्ति कः **पुनः** से हुई है और कोअ या **कु** में संस्कृत **कः** का स्पष्ट आभास है। प्राकृत में करण में **किण** रूप मिलता

है जो **वि** से संयुक्त भी मिलता है : किणा वि । यह गढ़वाली **कनै** के अनुकूल पड़ता है । **क्या** रवांल्टी में **का** रूप में मिलता है । हिन्दी की कई पूर्वी बोलियों में तथा ब्रजभाषा में भी यह किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ इसी रूप में मिलता है । मराठी में यह **काय** रूप में विद्यमान है । भोजपुरी **काह** का अध्ययन करते हुए इसकी व्युत्पत्ति डॉ० उदयनारायण तिवारी ने संस्कृत **कस्य** से निर्धारित की है ।[1] डॉ० वर्मा भी इसका सम्बन्ध **किम्** से नहीं मानते ।[2]

अनिश्चय वाचक सर्वनाम

§१०५. अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप में **क्वी** तथा **कुछ** या किछ का प्रयोग होता है । **क्वी** चेतन तथा **किछ** अचेतन वस्तुओं के लिए आता है । **क्वी** का विकारी रूप **कै** है । **क्वी** की व्युत्पत्ति स्पष्टतः कोऽपि से कोवि > केवि > क्वी रूप में हुई है । किछु की उत्पत्ति **किंचित्** से अधिक युक्ति संगत प्रतीत होती है ।

निज वाचक तथा आदर वाचक सर्वनाम

§१०६. आत्मसूचक सर्वनाम के रूप में **आफू** या **अपणो** का व्यवहार होता है । आफू अविकारी है । आपणो (पुलिंग), आपणा (पुलिंग बहुवचन), आपणी (एकवचन तथा बहुवचन) का प्रयोग प्रायः विशेषण के रूप में होता है ।

संयुक्त सर्वनाम

§१०७. कभी-कभी दो सर्वनामों का साथ-साथ प्रयोग भी मिलता है । इसके अनेक उदाहरण हैं, जैसे,

---

१ डॉ० तिवारी : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २३३

२ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २८६

क्या किछ करला? क्या-कुछ करूं ?
ज़ किछ करदाई : जो कुछ करते हो ...।
ज्वी क्वी औन्द : जो-कोई आता है.. ।
जनो-कनो फूल नी यो : यह जैसा कैसा फूल नहीं है ।
जैसा कैसा का अर्थ साधारण से है ।
जंई' कंई' का नौना : जिस किसी के लड़के ।
जिस–किसी काअर्थ है, किसी साधारण व्यक्ति का ।
जथा कुछ होइ सक : जितना कुछ हो सकता है ।
इथा उथा से काम नी चलदा ; इतने उतने से काम न चलेगा ।
इनमें से कई प्रयोग साहित्यिक हिन्दी में नहीं मिलते ।

सर्वनाम मूलक विशेषण

§१०८. विशेषण के समान प्रयुक्त सर्वनाम मुख्यतः परिमाण-वाचक, प्रकार वाचक तथा संख्यावाचक हैं। प्रकार वाचक विशेषण के रूप में एशो (इनो), कशो (कनो), जशो (जनो), तशो (तनो) आदि रूप मिलते हैं। इन सबकी व्युत्पति संस्कृत से इस प्रकार हुई है : एशो>एतादृश, त'शो>तादृश, कैशो>कीदृश,जशो>यादृश । अपभ्रंश में भी जइसो, तइसो, कइसो रूप सम्भव थे । इनो, तनो, कनो आदि **नो** में अन्त होने वाले रूप भी किसी प्रत्यय के सहयोग से ही निष्पन्न प्रतीत होते हैं।

§१०९. परिणाम को व्यक्त करने के लिए **इथःअ॔**, **उथाअ॔**, **कथाअ॔**, **जथाअ॔**, **तथाअ॔** विशेषण रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका अन्त्य स्वर प्रायः दुर्बल रूप में उच्चरित होता है। इनके अतिरिक्त प्रमाण वाचक विशेषणों का एक अन्य रूप भी उपलब्ध होता हैं : **इथका**, **उथका** **कथका**, **जथका**,**तथका**(क>ग=इथगा,उथगा आदि भी). ये पूर्वोक्त रूपों से सहसा भिन्न नहीं प्रतीत होते। केवल उन पर **का** प्रत्यय जुड़ गया है। **का** वास्तव में अल्पता को व्यक्त करने वाला प्रत्यय है। इसका सम्बन्ध

संस्कृत कः से प्रतीत होता है। जहां तक इन रूपों का सम्बन्ध है, प्राकृत में एतक केतक, तथा पाली में एतिय, केतिय, तेतिय रूप मिलते हैं। पिशेल ने इनके वैदिक रूपों की भी कल्पना की है।

§११०. **इति, तति, उति, कति, जति** आदि का व्यवहार संख्यावाचक सार्वनामिक विशेषण के रूप में होता है। **कति** स्वयं संस्कृत में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। बहुत सम्भव है, इसी के सादृश्य के अन्य शब्द भी संस्कृत में प्रयोग होते रहे हों। **इति** शब्द भी संस्कृत में मिलता है, यद्यपि उसके अर्थ में थोड़ा भिन्नता है। फिर भी दोनों **इति** बहुत भिन्न नहीं हैं। संस्कृत के कियत्, इयत् आदि रूपों से इनकी व्युत्पत्ति निश्चित करना उचित नहीं प्रतीत होता।

आकार की गुरुता और लघुता प्रगट करने के लिए गढ़वाली में **इतरो, ततरो, उतरो, जतरो, कतरो** आदि रूप मिलते हैं; जैसे, कतरो छ : कितना बड़ा या छोटा है। ये रूप रो प्रत्यय के सहयोग से सम्पन्न हुए प्रतीत होते हैं।

§१११. इन सब सर्वनामों को देखने के बाद एक धारणा बनती है कि ये सभी एक ही मूल से सम्बन्धित हैं और इनके विभिन्न रूप केवल एक ही समूह को बनाते हैं :

गुण	**संख्या**	**परिमाण**	**आकार**
एशो, इनो	इति	इथा, इथका, इतना	इतरो
वैशो, उनो	उति	उथा, उथका, उतना	उतरो
तशो, तनो	तति	तथा, तथका, ततना	ततरो
कशो, कनो	कति	कथा, कथका, कतना	कतरो
जशो, जनो	जति	जथा, जथका, जतना	जतरो

इस कल्पना के लिए पर्याप्त स्थान है कि प्रत्येक वर्ग के शब्द एक ही शब्द पर विभिन्न प्रत्ययों के योग से बने हैं। हिन्दी में आकार, परिणाम और संख्या के लिए अलग-अलग सार्वनामिक विशेषण नहीं हैं।

गढ़वाली इस दृष्टि से विशेष है, किन्तु यह भेद होते हुए भी वैकल्पिक रूप से इनका प्रयोग एक दूसरे के लिए हो जाया करता है, जैसे, (१) इति किताब (२) इथा किताब (३) इतरी किताब : हिन्दी में इन सबका अनुवाद एक ही यानी केवल **'इतनी किताबों'** के रूप में हो सकता है। इन सबके द्वारा गुण का बोध भी समान रूप में कराया जा सकता है, जैसे, (१) इति स्वाणी (२) इथा स्वाणी (३) एशी (इनी) स्वाणी (४) इतरी स्वाणी। इन सबका हिन्दी अनुवाद होगा : इतनी सुन्दरी।

इतने अभेद के होते हुए वास्तव में ये सब एक ही भाव के द्योतक नहीं हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में भी उनमें जो संख्या, आकार गुणोपम्य, अंश, मात्रा और प्रकार का भेद व्यंजित होता है वह तब भी लुप्त नहीं होता, यद्यपि उसे अनुवाद में एक शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

विशेषण

○

§१११. गढ़वाली में विशेषण लिंग और वचन से प्रभावित होते हैं। संज्ञापदों के लिंग के अनुसार ही विशेषणों के भी लिंग होते हैं। उदाहरण के लिए, काळो बळ्द, काळी गौड़ी। कर्म सदृश प्रयुक्त विशेषण में भी इसी नियम का पालन होता है। इसी प्रकार वस्तु अथवा प्राणियों में गुरुत्व अथवा लघुत्व की अभिव्यंजना के लिए उनके प्राकृतिक लिंग में जिस प्रकार अन्तर सम्भव है, उसी प्रकार विशेषण में भी। इस दशा में व्याकरणिक लिंग के अनुसार ही विशेषण का रूप शासित होने को बाध्य है, जैसे काळो गौड़ो, काळी गौड़ी। हिन्दी में इनका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार होगा : काळा बड़ा गाय, काली छोटी गाय। **ड़ो** आकार की गुरुता और **ड़ी** लघुता को प्रकट करता है। इस प्रकार ये प्रत्यय स्वयं विशेषण का कार्य करते दीखते हैं, जैसे **गौड़ो** : बड़ी गाय, **गौ** : सामान्य गाय, **गौड़ी** : छोटी गाय। इनमें **ड़ो** पुलिंग और **ड़ी** स्त्रीलिंग का प्रत्यय है। इसी प्रकार **लो, ली** तथा **टा, टी** प्रत्यय भी **ड़ो, ड़ी** की ही परम्परा को निभाते हैं; किन्तु इनका प्रयोग विशेषण रूप में कम ही मिलता हैं। ये मुख्यत: आकार की गुरुता और लघुता ही ध्वनित करते हैं, जैसे, नथ (सामान्य नथ), नथुलो (बड़ी नथ), नथुली (छोटी नथ) और धणु (सामान्य धनु), घणेटो (बड़ा धनु), धणूटी (छोटा धनु : धनुही)। किन्तु जब विशेषणों के स्त्रीलिंग बनाने होते हैं तो वे भी संज्ञा पदों की

ही भांति ईकारान्त हो जाते हैं, जैसे, बड़ो—बड़ी, काळो—काळी ।

§११२. वचन की दृष्टि से अधिक परिवर्तन विशेषणों में नहीं होते । केवल ओकारान्त विशेषण एकवचन में आकारान्त और बहुवचन में औकारान्त बनकर सविभक्तिक रूप धारण करते हैं :

बड़ो नौनो आए : बड़ा लड़का आया ।

बड़ा नौना आया : बड़े लड़के आए ।

बड़ा नौनान बोले : बडे लड़के ने कहा ।

बड़ा नौनौंन बोले : बड़े लड़कों ने कहा ।

शेष स्वरों में अन्त होने वाले विशेषण सब दशाओं में अविकृत मिलते हैं ।

तुलनात्मक श्रेणियां

§११३ गढ़वाली में तुलनात्मक श्रेणियों को प्रकट करने के लिए संस्कृत की भांति तरवन्त तथा तमवन्त प्रत्यय नहीं हैं । फिर भी उसमें गुणों अथवा विशेषताओं की मात्रा प्रकट करने के लिए अनेक विधियां हैं । **ड़ो, ड़ी, टो, टी, लो, ली** आदि प्रत्ययों से परिचित करवाया जा चुका है । यह भी कहा जा चुका है कि इनसे आकार के अनुपात को व्यक्त किया जाता है, जैसे, गौ : साधारण आकार की गाय, गौड़ो : साधारण से कुछ बड़ी गाय और गौड़ी : साधारण से छोटी गाय । **लो, ली तथा टो**, टी आदि के उदाहरण इसी प्रकार पीछे आ चुके हैं । वस्तुतः ई जिस प्रकार स्त्रीलिंग का प्रत्यय है, उसी प्रकार लघुता का व्यंजक भी है, जैसे, डाळो : बड़ा पेड़, डाळी : छोटा पेड़ या पौधा ।

§११४. समानता का भाव अनेक शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है, उनका परिचय आगे दिया जा रहा है । **सी** गढ़वाली में **सा** के अर्थ में अनिश्चय प्रकट करने के लिए ही जोड़ दिया जाता है जो सब दशाओं में अविकृत रहता है । उसमें तुलना का भाव वास्तव में अनिश्चय के रूप में विद्यमान होता है, जैसे,

दरशन की तरऊं-सी : दर्शन होने की क्रिया के समान।
गोरी सी नौनी : कुछ गोरी लड़की ।
मेरो-सी डेरो : कुछ मेरे घर जैसा।

समानता **सी, जशो, जनो, जशो, सरी, सरिक्या** आदि शब्दों से प्रकट की जाने की सामान्य परम्परा है। **सी** संस्कृत सम से व्युत्पन्न है। **सारिक्या** का सम्बन्ध सदृश से सम्भव है और **सरी** भी उसी का रूप है। **जशो** यादृश से सम्पन्न हुआ है। तुलनात्मक श्रेणियों का भाव कम, ज्यादा, **इस्ये, भिंडे** आदि शब्दों से तो व्यक्त किया ही जाता है, इसके अतिरिक्त **तो** और **चूलो** का भी प्रयोग होता है। नेपाली में **चाइँ** का प्रयोग मिलता है। गढ़वाली में उसके मुकाबले में **चँ** मिलता है। **तो** संस्कृत **तर** से भी व्युत्पन्न हो सकता है। तुलना में इनका प्रयोग इस प्रकार होता है :

ज्वा मै **तो** बंठीया वा रांड होया : जो मुझसे अधिक सुन्दरी हो (भगवान करे) वह विधवा होवे।

त्वै **चँ** त मैं भली—तुझ से तो मै भली।

वा त्वै **चूलो** स्वाणी छ : वह तुझसे अधिक सुन्दर है।

§११५. गुण की मात्रा, न्यूनता, अधिकता या अस्पष्टता प्रकट करने अथवा उनका कुछ आभास मात्र देने के लिए प्रायः विशेषण को दुहराने की परम्परा है। उदाहरण के लिए; **लाल-लाल सो** बाखुरो : कुछ लाल सी बकरी अर्थात् हलके लाल रंग की बकरी ।

गुणाधिक्य तथा मात्राधिक्य को प्रकट करने के लिए स्वराघात का विशेष महत्व है : विचारू **भ'ल्लू** मनखी छौ : बेचारा बहुत भला आदमी था। **भलो** के **भ'ल्लू** उच्चारण से गुणाधिक्य का भाव प्रकट किया गया है। उसी प्रकार अन्त्य स्वर को प्लुत बनाकर—खट्टोऽ निमौ : बहुत खट्टा नीम्बू। भलीऽ नौनी : बहुत ही सुन्दर लड़की—वही प्रभाव पैदा किया गया है ।

बहुत सम्भव है यह प्लुत ध्वनि संस्कृत उत के संयोग से आई हो, किन्तु ह्रस्व स्वरों में यह ध्वनि मध्य में होती है, जैसे,

लाऽल मुखड़ी : बहुत लाल मुख।

सपेऽद (या चिट्टोऽ) कपड़ा : बहुत सफेद कपड़ा।

यहां स्पष्टतः स्वराघात मध्य में पड़ता है इसलिए उपान्त्य स्वर में ही प्लुत ध्वनि आई है !

संख्या वाचक विशेषण

§११६. गढ़वाली में संख्यावाचक विशेषण हिन्दी तथा उसकी अन्य बोलियों के ही अनुरूप मिलते हैं। इस लिए यहां उन पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। प्राकृत में एक का उच्चारण ऍक्क हो गया था। गढ़वाली में वह **ऍक** है। **अनेक** प्राकृत में **अणेअ** था; गढ़वाली में **अनी** (अनी मा रघुनाथ को ?) रूप में मिलता है। ग्यारह के लिए प्राकृत की भांति ही **एग्यार**,**अग्यार** शब्द प्रचलित हैं। द्वि गढ़वाली में संस्कृत की तरह ही है। शब्दों के संयोग से वह **दु** हो जाता है, जैसे, दुमुख्या, दुमास्या, दुपया। दो के समूह के लिए प्राकृत में **दुवे** आता है, गढ़वाली में **दुय्ये** प्रचलित है : दुय्ये भरणा। बीस के समूह को **बीसी** कहा जाता है,जैसे एक बीसी, चार बीसी आदि। उसी प्रकार चार के समूह को **चौक** कहा जाता है। शब्दों के साथ चार **चौ** रूप में मिलता है, जैसे, चौखाल, चौबाटो। **सौ** के लिए **सै** शब्द का व्यवहार होता हैं।

§११७. क्रमवाचक विशेषणों में हिन्दी की तुलना में कोई अन्तर नहीं मिलता। केवल वे पुलिंग में ओकारान्त और स्त्रीलिंग में इकारान्त होते हैं।

§११८. गुणात्मक संख्यायें समान हैं। वे भी पुलिंग में ओकारान्त होती हैं। पट्टी-पहाड़ों में एक्का दोणी, तियां, चौका, पंजा, छक्का, सता, अट्ठा, नमा, दशांकी (दशक) आदि का व्यवहार होता है।

§११६. संख्या का निश्चयात्मक भाव व्यक्त करने के लिये संख्या सूचक शब्द एकारान्त हो जाता है और उपान्त्य व्यंजन द्वित्व हो जाता है, जैसे, दुय्ये, तीन्ने, चार्रे, पांच्चे आदि।

§१२०. अनिश्चय का भाव व्यक्त करने के लिए संख्या के साथ एक लगाया जाता है, जैसे, चारेक, पांचेक, सातेक, बारेक आदि। प्रत्येक संख्या को उसकी बाद वाली संख्या से जोड़कर भी वही भाव प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिए द्वि–चार, पांच–सात, दस–बार आदि। उसी प्रकार प्रत्येक–वाची–संख्या–विशेषण के रूप में एकेक, दुदिई आदि रूप संख्या की आवृत्ति से साध्य होते हैं।

§१२१. संख्यावाची समास सम्बन्धी शब्द भी गढ़वाली में प्राकृत और अपभ्रंश के अनुरूप हैं:

[१] **दां**—एक दां, द्वि दां, (संस्कृत एकदा)।

[२] **खुंटो**>खुत्तो<कृत्व : दुखुंटो, चौखुंटो।

[३] **हारो** (आरो) <कार : तिहारो, एखारो, दुहारो (<द्विधाकार) आदि।

§१२२. सार्वनामिक विशेषणों का परिचय सर्वनाम सम्बन्धी अध्याय में दे दिया गया हैं।

क्रिया-पद

§१२३. गढ़वाली की अधिकांश क्रियाएं संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से उत्तराधिकार में आई हैं। इन स्थितियों से गुजरते हुए मूल रूपों में जो परिवर्तन हुए हैं, उन पर विद्वानों द्वारा प्रयाप्त प्रकाश डाला जा चुका है। यहां इतना ही लिखना प्रासंगिक होगा कि गढ़वाली में क्रिया रूपों की प्रवृत्ति सरलता की ओर ही अधिक है और काल-रचना कृदन्त और सहायक क्रियाओं के तिङत तद्भव रूपों के समन्वय से होती है।

सिद्ध धातुएं

§१२४. गढ़वाली में इनकी संख्या इतनी अधिक है कि इन सबकी सूची एक स्थान पर देना सम्भव नहीं । उनमें से अधिकांश हिन्दी के अनुरूप ही हैं। यहां कुछ विशिष्ट धातुएं दी जाती हैं :

√कृ>करणू, √कंडू>कनौणू, √कण>कणाणू, √खन्>खणाणू, √गण>गणनू, √घृष>घिरसणू, √कास>कासणू, √कृत्>काटणू, या कार्तणू, √कथ>कथणू, √लिप्>लीपणू, √मुच्>मुचणू, √लुन—>लौणो, √रुच>रुचणू, √जन्>जनणू, √छीयते>छीजणू, √धृ>धरणू, √मृज>मांजणू, √रम्>रमणू, √स्मृ>समळणू, √सृ>सरणू, √शुध्>सोधणू, √पाच>पाचणो, या पकण, √वाच्>बांचणु, स्यायति>उस्यौण्, √भुज्>भुजणू ।

§१२५. अनेक धातुएँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता, किन्तु वे संस्कृत के मूलरूप को सुरक्षित रखे हुए हैं। उदाहरण के लिए रवांल्टी में वुश (बैठना), भान (भंज), दिशे (दृश्यते), भनरण, नारण (√नी), पाचरणू (√पाच्), कार्तरणू (√कृत), जांगि (घ्न) आदि रूप दर्शनीय है। दृश् धातु रूप माना जाता है, पर भाषा वैज्ञानिक उस का मूल रूप √*पश् मानते हैं। गढ़वाली में आज भी उजाले के अर्थ में **पश्यालो** (जिसमें देखा जा सके) शब्द का प्रयोग होता है।

§१२६. कई उपसर्ग धातुएँ भी सिद्ध रूप में उपलब्ध होती है :

प्रा – वृत् > पौडौरण, आ–चम् > चौंरणो, विश्रामयते > विसौंरण; उद्–वापयति > उस्यौरणू, उद्यच्छति > उभ्यौरण, उत्–कालयति > उकाळरणू; उत्–स्फुरति > उफररण, समर्जति > सांजरणू, उत्करोति > उखेळरणू, प्र–स्नोति > पन्हौरणू, अव–चलन्ति > ओअलंति > औळ्यों लगरण, वि—कृत् > विगचरणू, नि–भाल—> न्याळरण, उप–विश—> बुशरणू, प्र–क्षाल—> अखाळरणू, नि–मंत्र > न्यूतरण, उत्–ग्राह्य—> उगौरण, उद्–वापयति > उबौरणू।

§१२७. यही नहीं, अनेक रिगजन्त भी अपने प्रेरणापूर्थक रूप और भाव को लुप्त कर सिद्ध धातुओं में परिणत हो गए हैं :

अर्थयति > अड़ौरण, अड़रणू सपर्यत्ति > सपोड़रण, शोधयति > सोररण, कोटयति > कोररण, छादयति > छौरण, तापयति > तापरण, स्थापयति > थापरण, पूरयति > पुर्यौरण, निष्कासयति > निकसरण, प्र–सारयति > पसाररणू या पसररणू।

गढ़वाली की अधिकांश धातुएं तद्भव हैं, किन्तु देशज क्रियाओं का भी उसमें आभाव नहीं हैं।

साधित धातुएं

१२८. प्राकृत में रिगजन्त **हसावई, पठावई** आदि मिलते हैं। गढ़वाली में ये क्रियापदों के साथ **औ** जोड़ने से बनते हैं। इस **औं**

प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत **आप** से हुई है। गढ़वाली में दुहरे प्रेरणार्थक का भी प्रयोग मिलता है, जैसे, सामान्य प्रेरणार्थक—वो **करौन्द** तथा दुहरा प्रेरणार्थक—वो **करवोन्द** (वह कराता है; तथा वह करवाता है) । इस वों की व्युत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है : आप+आप > आवाप > वा > वो > वों । प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिए कहीं ल या आल प्रत्यय का उपयोग भी मिलता है, जैसे—खलौणू, पिलौण, दिलौणू, सीवाळणू, बिजालणू । इसीलिए केलॉग ने **आप** के स्थान पर **आल** प्रत्यय की कल्पना की है।

नाम धातु

§१२९. गढ़वाली में नाम धातुएँ **योण**, **अण्**, **एण**, आदि के योग से बनती हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

हात : हत्यौणू, मिश्र : मिसौणू, अस्त : अछलेणू, मुकुल : मौळणू, भाड़ : भड़्योणू, अंकुर : अंगरणू, उच्च : उच्चौणू, लम्ब : लम्यौणू, बिलम्ब : बेलमेणू, पुलक : पुळेणू, पुळकणू, शब्द : शब्द्यौणू, शीतल : सेलेणू, मैल (मृदिल) : मैलेणू, ग्रन्थ : गंठ्योणू, वाच् : वच्याणू, खुद : खूदेणू, भाप : भापेणू । यह ज्ञातव्य है कि पुलिंग में आण् और **योणू** प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं और स्त्रीलिंग में **एण** ।

सप्रत्यय धातुएं

§१३०. उपसर्गयुक्त धातुओं का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसी प्रकार धातु-प्रत्यय **आल** का परिचय दिया जा चुका है। गढ़वाली में धातु प्रत्यय अधिक तो नहीं किन्तु कुछ का प्रयोग बहुत व्यापक है।

[१] **क** : यह प्रत्यय हिन्दीमें भी विद्यमान है। सम्भव है इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत **√कृ** से हुई हो। **क**–प्रत्यय युक्त कुछ गढ़वाली धातुएं इस प्रकार हैं : अटगणू, सटकणू, सुरकणू, उकसणू, लचकणू, बिदकणू, ठसकणू, धसकणू, फरकणू, सिणकणू, भड़कणू दनकणू आदि।

[२] **ट, एट** : घसेटणू, लबेटण, फेटण, चबेटण, दबटणू आदि। इस प्रत्यय का सम्बन्ध संस्कृत वृत् से सम्भव है—घर्ष+वृत्>घसेटणू।

अनुकरणात्मक धातुएं

§१३०. गढ़वाली में अनुकरणात्मक अथवा ध्वनिज धातुएं बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। वे झंकार, रणन, गुंजन तथा ध्वनि के अन्य रूपों और प्रतीकों द्वारा निर्मित हुई हैं :

ककलाणू, ककड़ाणू, ससड़ाणू, बबराणू, भिभलाणू, गुणमुणाणू, छणमणाणू, भभराणू, धधराण, चचराणू, भिभड़ाणू, गुंगणाणू, घघराणू, थथराणू, भबड़ाणू। टपणू, फूंकरणू, छींकणू, अड़ाणू, लराणू, कणाणू।

इन धातुओं में कहीं या तो एक ही ध्वनि द्वित्व या पुनरुक्त हुई है या केवल ध्वनि प्रतीक लिए गए हैं।

वाच्य

§१३१. गढ़वाली में कर्मवाच्य के रूप **ए** (एन्दू) प्रत्यय के संयोग से सिद्ध होते हैं। ब्रजभाषा में यह **य** रूप में तथा भोजपुरी, असमी, उड़िया, बंगला आदि मागधी प्रसूत भाषाओं में **आ** रूप में मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति ग्रियर्सन ने **आय** से निर्धारित की है। **आय** का गढ़वाली में **ए** हो जाना सर्वथा अनुकूल है। यहां एन्दू कर्मवाच्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

१. त्वै से नी करेन्दू : तुझसे नहीं किया जाता।

२. चौक मा झोटा मारेन्दू : चौक में झोटा मारा जाता है।

प्राकृत में **अन्तु** समाप्ति-सूचक रूप थे। सम्भवतः लोक में उनका व्यवहार होता था, जैसे दीयते>दिज्जाई या दिज्जतु।[1] ये अन्तु

---

१ पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ७८१

वाले रूप गढ़वाली एन्द वाले रूपों के निकट ठहरते हैं। कभी-कभी कर्म वाच्य के रूप अतीत काल के कृदन्तीय रूप के साथ सहायक क्रिया जा के योग से भी बनाए जाते हैं। उस अवस्था में भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता :

१. त्वैसे नी कर्या जांद : तुझसे नहीं किया जाता।

२. चौक मा झोटा मार्या जांद : चौक में झोटा मारा जाता है।

उसी प्रकार भविष्यत् का भाव भी तत्सम्बन्धी कृदन्त और क्रिया रूपों के योग से ही अभिव्यक्त किया है :

१. त्वै से नी करेण्या : तुझसे नहीं किया जाएगा।

२. चौक मा झोटा मारेलो : चौक में झोटा मारा जायेगा।

प्राय: कर्मवाच्य के रूप सामर्थ्य के भाव और अभाव को सूचित करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी कर्ता की कार्यशक्ति (विशेषत: असमर्थता को प्रकट करने के लिए) उसे सम्बन्ध कारक में रखकर उसके साथ कै परसर्ग जोड़ दिया जाता है, जैसे, तेरा कै नी होण्या (होन्दू) : तुझसे नहीं होगा। यहां कै द्वारा के भाव को व्यक्त करता है और इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कृते से सम्भव है।

काल-रचना

§१३२. अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति ही गढ़वाली में भी दो काल हैं : (१) मूल काल (२) कृदन्तीय काल। मौलिक काल के निम्नलिलित रूप मिलते हैं :

१ सामान्य-वर्तमान

उत्तम पुरुष :	करदूं (एकवचन)	करदां (व०व०)
मध्यम पुरुष :	करदी	करदा
अन्य पुरुष :	करदो (दू)	करदा, करदन

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि मूल काल के रूपों की अपेक्षा

वर्तमान् काल के कृदन्त **अन्त** वाले रूप ही किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होने लगे। सम्भवत: इस प्रकार के प्रयोगों का चलन भारतीय आर्य भाषा के मध्यकालीन विकास में ही हो गया था। अपभ्रंश में **करन्तु, सुणन्तु** आदि रूप मिलते हैं। गढ़वाली में वर्तमान काल के कृदन्त का विकास इस प्रकार हुआ होगा—पठन्त > पठन्तऊ > पठन्तु > **पढ़्दू**। गढ़वाल के कुछ भागों में अनुनासिक-युक्त व्यंजन लुप्त हो गया है, केवल अनुनासिक रह गया है : जान्दू : जानू।

वस्तुत:, संस्कृत के सामान्य वर्तमान के रूप सम्भवत: गढ़वाली में आज्ञा चाहने के लिए प्रयुक्त होने लगे : द्रक्षामि > देखऊं, द्रक्षाम: > देखां। किन्तु रवांई-जौनपुर की बोली में सामान्य वर्तमान में कृदन्तीय रूपों की अपेक्षा संस्कृत आमि, आव, आम: आदि के विकसित रूप ही प्रयुक्त होते हैं। गढ़वाल और कुमाऊं की सीमा पर भी ऐसे ही रूप मिलते हैं—डयाळा **जामू** : घर जाता हूँ।

२. सामान्य भूत

§१३३. सामान्य भूत के रूप संस्कृत के निकट ठहरते हैं :

उ० पु० :	चल्यूं (अचलवम्)	चल्यां (अचलाम:)
म० पु० :	चल्यो (अचलो:)	चल्या (अचलत:)
अ० पु० :	चल्यो (अचलोत्)	चलिन (अचलवन्)

ये रूप दोनों लिंगों में अपरिवर्तित रहते हैं। केवल कभी मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष के एकवचन के रूप इकारान्त हो जाते हैं।

३. सामान्य भविष्यत्

§१३४. सामान्य भविष्यत् के रूप गढ़वाली में संस्कृत के अनुरूप नहीं हैं। उसमें भविष्यत् के क्रिया-रूप सभी पुरुषों में **लो** (एकवचन), **ला** (ब०व०) जोड़कर बनते हैं। स्त्रीलिंग में केवल एक वचन में **ला, लो** हो जाता है। वास्तव में आदिम भारोपीय भाषामें भविष्यत् नहीं था। आर्य

भी प्रारम्भ में काल भेद से अच्छी तरह परिचित न थे। फलतः गढ़वाली में आज भी भविष्यत् की व्यंजना वर्तमान काल के क्रिया-रूप से सम्भव है।

ल-प्रत्यय युक्त काल

§१३५. **ल** भविष्यत् का ही नहीं, वर्तमान और भूतकाल का प्रत्यय भी है। **लो** प्रत्यय का प्रयोग भविष्यत् में ही होता है किन्तु उसका व्यवहार कभी वर्तमान का भाव व्यक्त करने के लिए भी होता है—मैं चललू : मैं चलता हूं या चलूंगा। इसके अतिरिक्त कर्मवाच्य में इसका प्रयोग विशेष होता है जहां यह कार्य की प्रेरणा का द्योतन करता लगता है :

१. काटी जालो घास : घास काटा जाता है।

२. घोली जालो गेरू : गेरू घोला जाता है।

उसी प्रकार, इसका भूत कालिक प्रयोग (वह भूत जो बहुत पुराना नहीं) भी होता है : मिन किताब पढ़ले, या पढ़ियाले। इससे भी भिन्न, कर्म वाच्य में भी इसका प्रयोग सम्भव है :

१. घास कटेई गैलो : घास काटा गया होगा।

२. गेरू घोळेइ गैलो : गेरू घुल गया होगा।

इन प्रयोगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि ल प्रत्यय मुख्यतः भविष्यत् का रहा होगा किन्तु अतीत और वर्तमान के भावों को व्यक्त करने के लिए भी उसका व्यवहार किया जाता रहा होगा।

यह ल प्रत्यय अन्य भारतीय नव्य आर्य भाषाओं में भी विद्यमान है। ल अतीत बंगला, उड़िया, मराठी और असमी में **इल** तथा विहारी और भोजपुरी में **अल** रूप में मिलता है। अवधी में भी **ल** वाले भूत-कालिक रूपों के संकेत मिलते हैं।[1] ल भविष्यत् की व्युत्पत्ति ब्लाश ने

---

१ **डॉ० बाबूराम सक्सेना : इवोल्यूशन ऑव अवधी, पृ० २०६**

संस्कृत धातु √ला से दी है ।[1] डाँ० चाटुर्ज्या ने इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत **त** अथवा **इत** के साथ विशेषणीय अथवा लघुता वाचक **ल** से निर्धारित की है ।[2] **ल—वर्तमान का सम्बन्ध** डाँ० उदय नारायण तिवारी संस्कृत√लग धातु से सम्भावित मानते हैं ।[3] किन्तु वर्तमान अतीत और भविष्यत् के **ल** प्रत्यय का उद्‌गम तीनों कालों में भिन्न-भिन्न सम्भव नहीं । गढ़वाली में यह प्रत्यय या तो मागधी के प्रभाव से आया होगा या दरद के । कुछ लोग इसे राजस्थानी प्रभाव के रूप में भी ले सकते हैं ।

घटमान् काल-समूह

§१३६. गढ़वाली में निश्चयार्थक घटमान् वर्तमान धातु के साथ एकवचन में **णू** और बहु वचन में **णा** जोड़कर बनाया जाता है । इसके साथ सहायक क्रिया **छ** भी साथ रहती है : मि चलणू छौं, हम चलणा छां । टिहरी नगर के आस-पास सहायक क्रिया रह प्रयोग में आती है, जैसे— मैं चल **रह्यू**, हम चल **रह्यां** । मुख्य क्रिया अविकृत रहती है, केवल पुरुष और वचन के अनुसार सहायक क्रिया में ही परिवर्तन आते हैं ।

§१३७. घटमान अतीत के रूप धातु के साथ एकवचन में **णू** तथा बहुवचन **णा** लगाकर सहायक क्रिया के भूतकालिक रूप के संयोग से सम्पन्न होते हैं : जैसे—वो चलणू छौ, वो औणू **थौ** । टिहरी के आस-पास **छ** की अपेक्षा **थौ** का प्रयोग मिलता है : वो चल रै **थौ** तथा हम चल रै थान ।

§१३८. घटमान् भविष्यत् के रूप क्रिया के उसी रूप के साथ सहायक क्रिया **हो** के भविष्यत् कालीय सप्रत्यय रूप के संयोग से बनते हैं, जैसे—वो चलणू होलो ।

---

१ **ब्लाश : लांग मराठे, §२४२**

२ **ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, पृ० ६५७**

३ **भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० २७५**

§१३९. पुराघटित वर्तमान क्रिया के मूल रूप के साथ **ले या याले** के योग से व्यक्त होता है : मैन **देखले** या **देख्याले** । उसी प्रकार पुराघटित अतीत के रूप सहायक क्रिया के **छ** के भूतकालिक रूप के योग से बनाए जाते हैं, जैसे—मैन देखले (देख्याले) छौ (थौ) ।

§१४०. सम्भाव्य अतीत, भविष्यत् और वर्तमान के रूप क्रिया के **ए** वाले रूप के साथ **हो** सहायक क्रिया के कालीय रूपों के योग से साध्य हैं ।

इच्छार्थक और आज्ञार्थक रूप

§१४१. गढ़वाली में इच्छार्थक और आज्ञार्थक रूप संस्कृत से विकसित हुए हैं । आज्ञार्थक रूप इस प्रकार चलते हैं :

उत्तम पुरुष	:	जाऊं, जौं	जावां
मध्यम पुरुष	:	जा	जावा
अन्य पुरुष	:	जाओ	जौंन, जावन

शौरसेनी और मागधी में इसके लिए समाप्ति-सूचक चिन्ह **आहि** और **एहि** थे । अन्य पुरुष का एकवचन क्रिया के साथ उ जोड़कर बनाने का विधान था । शौरसेनी, मागधी और ढक्की में तु दु हो जाता था । गढ़वाली में भी यह प्रवृत्ति सुरक्षित है—शृणोतु>सुण दौं या सुण दु ।

वास्तव में आज्ञार्थक और इच्छार्थक रूप गढ़वाली में भिन्न नहीं हैं । एक से रूप दोनों में काम आते हैं । किन्तु गढ़वाल के कुछ भागों में ऐसे रूप भी प्रचलित हैं, जिनसे यह अनुमान लगता है कि संस्कृत के विधि लङ के रूप भी लोक में व्यवहृत रहे होंगे । हिन्दी में **इए, जिए** और प्राकृत में **इज्ज** वाले रूप मिलते हैं । उसी प्रकार गढ़वाली में कहीं **इया** वाले रूप उपलब्ध होते हैं, जैसे—कुर्यात्>करया या करिया, भूयात्>होया । बहुवचन में **न** और जुड़ जाता है : करियान, होयान ।

कृदन्तीय काल

गढ़वाली में कृदन्तीय रूपों का प्रयोग ही अधिक होता है ।

§१४२. वर्तमान कालिक कृदन्त धातु के साथ द (दो) प्रत्यय के योग से बनता है । संस्कृत का यह शतृ प्रत्यय अपभ्रंश में अत रूप में मिलता है । इसका विकास इस प्रकार हुआ है : चलन्त>चलन्दो> चलदो । यह कृदन्त रूप भोजपुरी, बंगला, उड़िया, अवधी, ब्रज आदि कई भाषाओं सें समान रूप से पाया जाता है । स्त्रीलिंग में यह इकारान्त हो जाता है ।

§१४३. भूत कालिक कृदन्त संस्कृत के **इत:** से गढ़वाली में **इयो** रूप में विकसित हुआ है : चलित:>चल्यो । वहुधा धातु का अन्त्य स्वर लुप्त हो जाता है और उसके साथ **यो** (वहुवचन में **या**) जुड़ जाता है । **यो**, *या* के स्थान पर कभी (जब अन्त्य स्वर अ, य, इ, ए, ओ हों) **न्यो** (स्त्री० **नी**) का भी प्रयोग होता है, जैसे—दिन्यो, लिन्यो, पिन्यो । यह परम्परा अपभ्रंश में भी थी । ब्रज आदि के दीन्ह, कीन्ह, दीनो, कीनो आदि रूप भी तुलनीय हैं ।

§१४४. पूर्वकालिक कृदन्त रूप वनाने के लिए संस्कृत में धातु के साथ त्वा तथा य प्रत्यय लगाए जाते हैं । अपभ्रंश में इ प्रत्यय को प्रधानता मिली । प्राकृत में **इअ** मिलता हैं । गढ़वाली में संस्कृत का **य** प्रत्यय कहीं **इ** और कहीं (विशेषत: रवांल्टी में) **इअ** रूप में[1] मिलता है । गढ़वाली में **इ** का प्रयोग ही व्यापक है : **मारिइँ पीटीइँ** भागी गए। चला देखिइँ जौला । इ की ध्वनि इतनी निर्बल होती गई कि बाद में उसके साथ √कृ का पूर्वकालिक कृदन्त **कृत्वा** सहायक रूप में आने लगा जैसे देखिक, मारिक, पीटिक । अत: गढ़वाली में दोनों प्रत्यय **इ** और **क** प्राय: साथ सुनने में आते हैं । यह द्वित्व अनेक भाषाओं में है । सम्भवत: अवहट्ट में ही इसका प्रारम्भ हो चुका था ।

§१४५. भविष्यत् काल का कृदन्त गढ़वाली में अधिक प्रयोग में

---

१ गोविन्द चातक : गढ़वाली लोकगीत, पृ० ११३-२२

नहीं आता। धातु के साथ **ण्या** जोड़कर जो रूप साध्य होते हैं उनमें किंचित् भविष्यत् का भाव व्यक्त अवश्य होता है किन्तु उसमें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विचार विशेष महत्व का होता है। मैं नी करण्या—मैं नहीं करूंगा। यह रूप संस्कृत **अनीय** और अपभ्रंश **अणीय** से विकसित है। कर्मवाच्य में यह णी रूप में ही रह जाता है : हमारी बात कैन **जाणणी** : हमारी बात कौन जानेगा।

§१४६. इन कृदन्तों का प्रयोग विशेषणवत् भी होता है। संस्कृत **तव्य** प्रत्यय अपभ्रंश में एव्बऊं, इएव्बऊं आदि रूपों में मिलता हैं। **अऊं** वाले रूप भी कहीं उपलब्ध हो जाते हैं। गढ़वाली में यह प्रत्यय यूं रूप में आया है : कर्त्तव्यम् >प्रा० करिब्बऊँ >गढ० करयूँ। स्त्रीलिंग इकारान्त : करीँ। उसी प्रकार **अनीय** प्रत्यय के योग से निर्मित क्रिया रूप विशेषण की तरह भी प्रयोग में लाए जाते हैं, जैसे **करण्या** काम, मरण्या मनखी।

§१४७. इसी प्रकार धातु के साथ **णो** (या णू) प्रत्यय जोड़कर क्रियावाचक विशेष्यपद बनाए जाते हैं; जैसे बाजणो, चलणो, बैठणो। संस्कृत में यह **अनं** रूप में मिलता है। प्राकृत में त्ताण या **तूण** के योग से क्रियार्थक संज्ञापद का एक और रूप पाया जाता है जिसके वैदिक रूप की कल्पना **त्वानम** के रूप में की गई है। गढ़वाली में यह **याण**, **वाण** या **ऊण** रूप में विद्यमान है : रोऊण, बढूण, पनूण, मनूण, पचूण, समूण, जमूण,ढक्याण,भुज्याण आदि। **आ** प्रत्यय के योग से भी क्रियार्थक संज्ञापद बनते हैं—√चलणू से चाल, √हैंसणू से हैंसी, √छा से छान, √रोप से रोपण। उसी तरह **ई** के योग से—√बोलणू से बोली। द्वैत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं—छौंपा-छौंपी, सका-सकी, चला-चली, देखा-देखी, काटा-काटी। इसके अतिरिक्त **आई** प्रत्यय के योग से अनेक क्रियाएं भाव वाचक संज्ञा का काम देती हैं—√चल से चलाई, √हिट से हिटाई, √देख से दिखाई,√रोप से रोपाई,

√खा से खलाई; √रो से रुवाई।

§१४८. अपभ्रंश में सामान्य क्रिया के समाप्ति–सूचक चिन्ह **अण आणहिं, अणहि** थे,जैसे—आख्यातुम् > अक्खाणऊं तथा कर्तुम् > करणूँ गढ़वाली में **ण** और **णं** का प्रयोग किया जाता है : वो खाणू तैयार छन बैठयां। **खाणँ** ऐन वो यख। संस्कृत **तुम्** से विकसित ये रूप परस्पर तुलनीय हैं।

सहायक क्रिया

१४९. गढ़वाली में **छ** प्रमुख सहायक क्रिया है। इसका प्रयोग केवल गढ़वाली में ही नहीं, समस्त हिमाली बोलियों, राजस्थानी, गुजराती, बंगला आदि में भी होता है। टर्नर ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत आ+क्षे से मानी है। हमारी दृष्टि में **छ** को अस्ति से सम्बन्धित किया जा सकता है। अनुमानतः अस्ति और **छ** के बीच की अवस्था इस प्रकार सम्भव है : अस्ति > असति > अछइ > **छइ** > छ। प्राकृत में **आछ** और अपभ्रंश में **अच्छ** या **अच्छि** रप उपलब्ध होते हैं। अवहट्ट और आरम्भिक अवधी में भी **अछ** वाले रूप विद्यमान थे। कहीं छौ के स्थान पर भूतकाल में **थौ** आदि रूप मिलते हैं। थ–रूप की व्युत्पत्ति भी अस् धातु से सम्भव है। कुछ लोग √भू और स्थ से भी उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्ध मागधी प्राकृत में यह **इथा** या **इत्थ** रूप में विद्यमान था। निमाड़ी और खड़ी बोली का **था**, नेपाली **थियो**, उड़िया **थि**नो, लहन्दा **थिउसे** और मालवी **थो** भी तुलनीय हैं। भूत निश्चयार्थक के लिए हिन्दी की कई बोलियों में **हुतो** का प्रयोग मिलता है। गढ़वाली का **थौ** इसके निकट है। **थ**–वाले रूप कहीं **तो** या **ती** रूप में भी प्रयोग में आते हैं जैसे, तेरी बैण हरची गै **ती** या भाई हरची गै **तो**। अस्ति का आथि और नास्ति का न्हाति (या नाथि) रूप केवल स्वीकृति, अस्वीकृति तथा स्थिति–सूचक होते हैं। प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती तथा हिमाली भाषाओं में ये रूप सर्वत्र मिलते हैं। **छ** और **थ**–वर्गीय सहायक क्रियाओं के रूप भविष्यत् में नहीं होते। भविष्यत् में **ला** प्रत्यय युक्त √हो का प्रयोग किया जाता है।

संयुक्त क्रिया

§१५०. संयुक्त क्रियायें प्रायः कृदन्तों से संयुक्त मिलती हैं। टिहरी के आस-पास के क्षेत्रों में **र** (रह) का प्रयोग घटमान वर्तमान में विशेष मिलता है; जैसे घर जै **रयू**। इसके अतिरिक्त करणो, जाणो, चाणो, लगणो, लेणो, देणो, पड़णो, उठणो भी प्रमुख संयुक्त क्रियाएं हैं। √**करणो** के प्रयोग की विशिष्टता दृष्टव्य है : जै करी (जा लेना के अर्थ में), दी करी, खाइ करी। इनमें **चाणो** से इच्छा का बोध होता है। **सकणो** से सामर्थ्य, आज्ञा या अनुमोदन का भाव व्यक्त किया जाता है। यों ही **लेणो** या **देणो** में अनुमति या अनुमोदन; **लगणो** में कार्य का आरम्भ **पड़णो** में विवशता, **जाणो** में भूतकाल में कार्य की समाप्ति, और **रखणो** में कार्य की पूर्णता का भाव निहित होता है।

§१५१. कार्य की निरन्तरता या आवृत्ति को प्रकट करने के लिए कभी क्रिया के पदों में द्वित्व दिखाई देता हैं। गढ़वाली में इसके दो रूप मिलते हैं : (१) एक ही क्रिया दो बार दुहराई जाती है और (२) दो समानार्थी या सहचर भाव वाली क्रियाएं परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं, जैसे—नाचदा–गांदा, खान्दा–पेन्दा, पड़दा–लेखदा, कूटदा–पीसदा, गोडदा–नेळदा, हिटदा–बैठदा, वोळदा–चाळदा आदि।

गढ़वाली में वस्तुतः सहायक क्रियाओं और संयुक्त क्रियाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। कृदन्तों के सहयोग से वे ही कार्य और काल की अभिव्यक्ति करती हैं।

अव्यय

○

§१५२. गढ़वाली में भी अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की भांति ही संज्ञा पदों, सर्वनामों तथा विशेषणों से अव्यय बने हैं। इनमें से अधिकांश अव्यय संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से उत्तराधिकार में आए हैं। उनका सामान्य परिचय दिया जाता है :

कालवाचक-अव्यय

§१५३. निम्नलिखित कालवाचक अव्यय विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं :

> धड़ी (घटिका), आज (अद्य), भोळ (भव्य वेला), व्याळे (विकाले), सबेर (सवेला), अबेर (अवेला), व्याखुनी (विक्षण), झट (झटति), आग्गे (अग्रे), पाछ (पश्च), पौर (परुत्), परार (पर परुत्), सदानी (सदातन), नित (नित्य) आदि।

सर्वनाम सम्बन्धी अव्यय अब, जब, तब, कब आदि गढ़वाली में अनेक पर्यायों के साथ मिलते हैं। एक रूप में वे हिन्दी के अनुरूप ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनका दूसरा रूप **अबरे** (अबारी), **जबरे** (जबार), **तबरे**, **कबरे** (कबार) आदि शब्दों में मिलता है। इन शब्दों का सम्बन्ध स्पष्टतः वेला शब्द से है। इसके अतिरिक्त **जदि**, **कदि**, **तदि** का भी प्रयोग होता है। इनकी व्युत्पत्ति यदा, तदा, कदा आदि

रूपों से स्पष्ट ही है। जदि, कदि वाले रूप कहीं **जैअॅ, तैअॅ, कैअॅ, वैअॅ,** रूप में भी मिलते हैं, जैअॅ जाला तैअॅ मैक बोल द्यान। या जय्येँक (जय्यॅ) जाला मैं मिली जान। जॅ, तॅ, कॅ आदि रूप भी इन्हीं रूपों के अनुरूप लगते है : जॅ जालो तॅ बोली दे। यदा का **जइ** और तदा का **तइ** रूप प्राकृत में भी मिलता है। प्राकृत में **जाहे** और **ताहे** रूप भी मिलते हैं। **अभी** के अर्थ में गढ़वाल में कहीं **अमणी** शब्द का प्रयोग होता है। यह जैन महाराष्ट्री प्राकृत में **एँण्हि** (<अस्मिन्) रूप में आया है।

स्थानवाचक अव्यय

§१५४. स्थानवाचक अव्ययों में विशेष ये हैं :

अण्थ (अन्यत्र), संग्थ (सर्वत्र), नेड़ (निकट), पास (पार्श्वे), भैर (बहिः), भित्र (अभ्यंतर), तौळ (तल), भुंई (नीचे : भूमि) पार (पार : उस पार), वार (इस पार), ऐंच (उच्च), मथे (मस्तके), उब्बो (ऊर्ध्व), उदो (अधः) मुड़े (मूले) आदि।

इनके अतिरिक्त कुछ देशज अव्यय इस प्रकार हैं :

नि'स (नीचे), बेड़ (नीचे), ढीस (ऊपर), ओज (ओर)। अरबी फारसी से भी कुछ अव्यय सम्मिलित हुए हैं, जैसे, नजीक, तरप।

§१५५. सर्वनाम मूलक अव्ययों के कई रूप मिलते हैं :

[१] यख, वख, तख, कख, जख।
[२] यत्थ, वत्थ, तत्थ, कत्थ, जत्थ।
[३] इथैं, वथैं, तथैं, कथैं, जथैं।
[४] यॅ; वॅ, तॅ, कॅ, जॅ।

ये सब रूप एक दूसरे के पर्याय हैं। **यत्थ, वत्थ** आदि रूप स्पष्टतः **यत्र तत्र** आदि संस्कृत रूपों से निष्पन्न हैं। प्राकृत में **एत्तहें, तेत्तहें** रूपों के साथ अत्थ, तत्थ आदि रूप भी उपलब्ध होते हैं। अनुस्वार युक्त **इथैं, उथैं** वाले रूप **यत्र, तत्र** आदि रूपों के साथ **तन** प्रत्यय के संयोग से बने हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि ये रूप **स्थाने**

प्रत्यय के योग से साध्य हुए हों—जैसे तत्स्थाने : **तथैं**, एतत्स्थाने : **इथैं** आदि।

यख, **वख** आदि रूप **कक्षं** के योग से निष्पन्न हुए प्रतीत होते हैं, जैसे, एतत्कक्षं : यख। जॅं, तॅं, यॅं, वॅं आदि काल वाचक अव्यय स्थान वाचक भी बन जाते हैं। प्राकृत में भी यह प्रवृत्ति थी।[1] कॅं छै जाणू, जॅं जाणू हो तॅं खाइ दौं रूवटी, जैसे प्रयोग गढ़वाल क कुछ भागों में सामान्य हैं। प्राकृत में जह जहिं, कह, कहि आदि रूप मिलते हैं। गढ़वाल में कहीं कॅं, जॅं आदि के स्थान पर काअॅं (प्राकृत काहे) आदि आकारान्त रूप उपलब्ध होते हैं।

रीति वाचक अव्यय

§१५५. रीतिवाचक क्रिया विशेषण इस प्रकार है :

माठू (धीरे-धीरे), सुदे (स्विदू : ऐसे ही), दगड़ी (साथ), संग, सात (सार्थ), आस्ते (आहिस्ता) आदि।

सर्वनाम–क्रिया–विशेषणों का परिचय (§१०८) दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त ज्यूं तथा त्यूं रूप भी द्वित्व में प्रयोग में आते हैं। इनो कनो आदि की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ कह सकना सम्भव नहीं : ऐसा प्रतीत होता है कि इनके साथ **एनेव** प्रत्यय संयुक्त है। ज्यूं, त्यूं की उत्पत्ति चटर्जी अपभ्रंश जेव, तेव आदि से मानते हैं। उसके लिए उन्होंने सम्भावित संस्कृत रूपों की कल्पना भी की है।

परिमाण वाचक अव्यय

§१५६. परिमाण-वाचक क्रिया विशेषण इस प्रकार हैं :

हौर (अपर), भौत (बहुत्व), इस्से (ईषत्), भिंडी (भांड्य); जादा (ज्यादा), कम, मस्त (वहुत), अमिथ्या (अमित), जरा।

---

१ **पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**, §४२८

सर्वनामजात परिमाण वाचक विशेषण कथा, जथा, तथा आदि का परिचय पीछे (§१०६) दिया जा चुका है। कभी इनके साथ का (गा) प्रत्यय भी जुड़ा मिलता है, जैसे कथगा, जथगा, उथगा इथगा। का या गा वास्तव में परिमाण की अल्पता का भाव व्यक्त करता है। पालि में एतक, कितक तथा प्राकृत में एँत्तिय, केँत्तिय आदि रूप मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय पर डा० चाटुर्ज्या ने पूर्णतः विचार किया है।

स्वीकृति तथा निषेध वाचक अव्यय

स्वीकृति इन अव्ययों द्वारा प्रकट की जाती है : **हा**, ह, **ओई**, हू, **हो**, द, **आथि**, **छ**। निषेध के ये रूप हैं : **न**, **नि**, **कतैं**, **ना**, **न्हाति**।

सम्बन्ध–वाचक : समुच्चय बोधक

१५७. इसके अनेक रूप मिलते हैं :

अर, **और**, **फिर**, **दी**। तु दी मैं जौला (मैं और तू चलेंगे)। **चा**, **जा**, **कि**, **नितर**, **त**, **कँ**, **सु**, **पर**, **बल** आदि।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये स्पष्ट ही हैं। **अर** अथवा और संस्कृत अपर से व्युत्पन्न हैं। **कि** की व्युत्पति डा० सक्सेना किम् से निर्धारित करते हैं।[1] **दी** की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। बहुत सम्भव है यह **आदि** का अवशेष हो। **पर** स्पष्टतः संस्कृत परं है। उसी प्रकार **त** की व्युत्पत्ति संस्कृत **ततः** से हुई है। **नितर** संस्कृत **ननु** का प्रतिनिधि है। **चा** अथवा **जा** चाहे के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। **बल** का प्रयोग किसी अपरोक्ष व्यक्ति की वाणी को उद्धृत करने में होता है, जैसे, त्वैन बोले **बल** मैंन वैका रुप्या नी देणा। इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत **मन्ये** से हुई है जो प्राकृत में **वने** और **बले** रूप में मिलता है। उसी प्रकार एक अन्य सम्मुचय वोधक

---

१ **डा० बाबूराम सक्सेना : इवोल्यूशन ऑव अवधी, पृष्ठ ३११**

अना भी है : अनां इनु बोल द्यान । अपभ्रंश में यह अनु रूप में विद्यमान था।

विस्मयादि बोधक

§१५८. अन्तरभाव वाचक अव्ययों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

[१] **आह्वान तथा सम्बोधन :**

हे, हेला, हेली, **अला, अली, अजो** (आर्य, अहो जीव)। **अरे, रे** आदि। इनमें ला, ले, रे का प्रयोग निम्न श्रेणी के लोगों के लिए होता है। कभी इनका व्यवहार समवयस्क मित्रों में भी सम्भव है। इसी प्रकार पशुओं को पुकारने के लिए अलग-अलग सम्बोधन हैं, जैसे कुत्ते के लिए : **औ, औ, कुतरू, कुतरू**; बिल्ली के लिए : **ले सिरू ले**, भेड़ के लिए : **अयां ले, हां ले**, बकरी के लिए : **ऐई ले**, भैंस के लिए : **दाऊ ले।**

[२] **करुणा व्यंजक :**

हेराँ (हे राम), हे दैव, हाइ, हा, तु, तु, त्वा च तृच, च्, च्।

[३] **कष्ट व्यंजक :**

हा, हे, वई कनु मरघू, उह, ह्व, हाई, आ।

[४] **विस्मय बोधक :**

चब्बे, क्या, हैं, दः, अलाः, तओं।

[५] **घृणा व्यंजक :**

दुर, छिः, हट्ट, उं, हक्, थुक्।

[६] **व्यंग्य तथा दया :**

चुचा, लठ्याला, लठ्याली, बिचारो, भग्यानी, लोळा।

[७] **उल्लास सूचक :**

हा, आः, आहा, हो।

अनुकार सूचक अव्यय

१५९. गढ़वाली अनुकार-सूचक ध्वनियों से बहुत सम्पन्न है। इन ध्वनियों के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा जा चुका है (§७०,१३०)। यहां कुछ और शब्द दिए जाते हैं :

स्यां स्यां (नदी का कलकल), छणमण (छनछनाना), च्वीं–च्वीं (चूं चूं), घ्वीं घ्वीं (घूं घूं), दणमण (आंसुओं का गिरना), गड़गड़ (आकाश की गर्जन), रुणांक (रोने की ध्वनि), भणांक (बातें करने की ध्वनि), गुणमुण (अस्पष्ट ध्वनि), हिरिरि (स्निग्ध गति से), सररर, सरासर (तेजी से), दनादन (शीघ्रता से), दमादम (एक दम से), रुमझूम (झूमना), ठमठम (ठुमकना) लमसट्ट (पीट कर लम्बा कर देना); सरवट (झट से), खतबत (छलकने की क्रिया), छर्र (पानी का जोर से निकलना), गुरगुर (धीरे-धीरे) सुरसुर (चुपके से)।

प्रत्यय और उपसर्ग

○

§१६०. गढ़वाली के प्रत्यय और उपसर्ग मुख्यतः संस्कृत से उद्भूत हैं। उनकी तुलना में देशज और विदेशी प्रत्ययों और उपसर्गों की संख्या अधिक नहीं हैं। यहां उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

§१६१. **ओ, अदू, अदी, अणो, अण्या, आई** आदि अनेक प्रत्ययों के उदाहरण पीछे दिए जा चुके हैं। (देखिए: §१४३,१४४,१४५)। **आई** हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है : लिखाई, पढ़ाई, गोड़ाई। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत **ताति** या **आपिका** से निर्धारित की जाती है।

§१६२. **आऊ** : बिकाऊ, दिखाऊ। इसकी व्युत्पत्ति **आप+उक** से वने क्रिया मूलक विशेषण से मानी गई है।

§१६३. **आक** : इससे अनेक शब्द बनते हैं, जैसे, टणांक, लड़ाक, बोलाक, धड़ाक, हराक, छराक, भणांक। इसकी उत्पति हाँर्नले **आपक** से और डा० चाटूर्ज्या प्राकृत **अक्क या आक्क** से मानते हैं। इसी प्रसंग में **वाक** भी उल्लेखनीय है : बैठ्वाक, खवाक।

§१६३. **आप** : मिलाप, सिलाप आदि। डा० तिवारी ने इसे आत्मन् से सम्बन्धित माना है।

§१६५. **आर** : यह प्रत्यय संस्कृत **कार** से उद्भूत है। गढ़वाली में गितार, जितार आदि शब्दों में मिलता है।

§१६६. **आट** : ध्वनि सूचक प्रत्यय है, जैसे—अड़ाट, किड़ाट, कबलाट, चबलाट, खबड़ाट, छमणाट। इसका सम्बन्ध हौर्नले ने संस्कृत बृत्ति या **वार्त** से ढूंढा है किन्तु बीम्स इसे **आतु** या **अतु** से सम्बन्धित बताते हैं।

§१६७. **आन**, आलु : ये प्रत्यय संस्कृत के **आल** (जैसे रसाल) और आलु (जैसे श्रद्धालु) प्रत्ययों के अनुरूप हैं। मयाळु, न्याळू, (स्नेहालु), छुयाँळ, रुआंळ, दुधाळ, धुयांळ आदि में कहीं आल और कहीं आलु विद्यमान है।

§१६८. **आणी**, इ, ईण आदि स्त्रीलिंग के प्रत्ययों का परिचय दिया जा चुका है (§८३)। उसी प्रकार और, कां आदि भी हैं।

§१६९. बहु वचन के प्रत्ययों का भी उल्लेख हो चुका है (§८८)। उनमें **आत** प्रत्यय भी समूह का द्योतन करता है, जैसे **जन्यात** (बरात), **भयात** (बिरादरी), **बिस्वात** (बीस का समूह), जमात।

§१७०. **आड़ो, आड़, आड़ी** विशुद्ध देशज प्रत्यय हैं। आड़ से क्रिया मूलक विशेषण के रूप सिद्ध होते हैं, जैसे, हैंसाड़, रिषाड़, नचाड़ आदि। **आड़ो** और **आड़ी** क्रिया मूलक विशेषण तो नहीं बनाते पर सम्बन्ध सूचक होते हैं : जवाड़ी (जौ का आटा), गेंवाड़ी (गेहूं का आटा), गेंवाड़ो (गेहूं का खेत), कोदाड़ी (कोदे का आटा), कोदाड़ो (कोदे का खेत)।

§१७१. **इलो, उलो, लो** संस्कृत में इल और प्राकृत में इल्ल, उल्ल प्रत्यय मिलते हैं। आगिलो, पाछिलो, व्याहिलो, सासिलो, छइल, करछुलो, मुरखुल्लो, हंसिलो। स्त्रीलिंग में **इली** या **उली** आता है, जैसे, ब्योली, नणदुली, विन्दुली, नथुली, बांसुली। इसके अतिरिक्त **उली** के समान **उड़ी** प्रत्यय भी स्त्रीलिंग का वोधक है। इससे आकार की लघुता भी ध्वनित होती है : माइड़ी, (माइलूड़ी भी), रातुड़ी, खुटूड़ी, दांतुड़ी, खाबुड़ी, पातुड़ी, जुकुड़ी, फूलूड़ी आदि। **टुड़** भी इसी से मिलता जुलता प्रत्यय है। इसका प्रयोग गढ़वाल के रवांई क्षेत्र में व्यापक है

कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : खशटुड़ी, ड्यांटुड़ी, गैंठूड़ी। इसी प्रसंग में **ल** का उल्लेख भी यहां किया जा सकता है। यह संस्कृत का क्रिया विशेषणीय प्रत्यय है। गढ़वाली में यह **लो** रूप में मिलता है—एकलो, दुकलो, पटलो, खटलो, लटलो, पोथलो (पुत्रल), दुदलो (दुग्धल), किरमोलो (कृमिल), रौतेलो (राजपुत्रल)।

§१७२. **इया** : यह संस्कृत का **ईय** प्रत्यय है : गढ़वाली में इसके योग से इस प्रकार के रूप साध्य होते हैं : एकातिया, इस्कूल्या, मुरल्या, हल्या, दगड़्या, हजारया।

§१७३. **उ** : संस्कृत में यह **उक** रूप में मिलता है। प्रायः यह विशेषण का भाव व्यक्त करता है : उजाड़ गौड़ी, बिगाड़ नौना, स्वांरू (सोमवार के दिन पैदा हुआ व्यक्ति)।

§१७४ **एर** : हिन्दी में भी(एरा—लुटेरा, चितेरा) है। गढ़वाली में **डोलेर**, बसेर, गलेर, भतेर आदि शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। यह **एड़** रूप में भी व्यवहृत होता हैं, जैसे, खुदेड़, भजेड़, रोन्देड़। इसी से मिलता जुलता एक और प्रत्यय **एड्ड** भी प्रयोग में आता है, जैसे, घरेड्ड, भितरेड्ड, बणेड्ड, मड़ेड्ड।

§१७५. **ऐत** : विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति **वत्, मत्** या **आपन्त** से निर्धारित की है। हिन्दी में यह **आयत रूप** में आता है। गढ़वाली में इसके योग से कुछ शब्द इस प्रकार बनते हैं : कठैत पंचैत, चकड़ैत, संजैत, बसैत।

§१७६. **ऐस** : हिन्दी **आस के वंश** का यह प्रत्यय डॉ० उदय नारायण तिवारी के मत में संस्कृत **आप+वश** तथा हॉर्नले के अनुसार संस्कृत **वांछा** से सम्बन्धित है। ईयस् (गरीयस्,कनीयस्) रूपों से भी इसके उद्भव की कल्पना की गई है। गढ़वाली में इस प्रत्यय के योग से भाव-वाचक संज्ञाएं बनती हैं : जैसे मिठैस, कड़ैस, मोटैस, उच्चैस, थैस।

§१७७. **ऐल** : दबैल, चुड़ैत, डंडैल, रखैल आदि शब्दों में इसका

प्रयोग मिलता है ।

§१७८. **ओण्डी, ओण्डो :** सिरोण्डो, सिरोण्डी, बणोंडी आदि पुराने शब्दों के अतिरिक्त अब इस प्रत्यय का प्रयोग विरल हो गया है ।

१७९. **ओट :** यह प्रत्यय हिन्दी के **वट** के अनुरूप है । इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत **वृत्त** से सम्भव है । दिखलौट, अंध्यालोट जैसे शब्दों में **ल** का आगम भी हुआ मिलता है ।

§१८०. **क; आक; को**; आदि क—वर्गीय प्रत्यय बहुत महत्वपूर्ण हैं । पीछे क्रियाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए **क** पर विचार किया जा चुका है (§१३०) । इस प्रत्यय से निर्मित शब्द प्रायः ध्वन्यात्मक होते हैं, जैसे—तड़क, ठसक, सुरक, डमक, भटक । **आक** के योग से भी ये वे ही भाव व्यक्त करते हैं—तड़ाक ठसाक, सराक, डमाक, भटाक । ये सब संज्ञा रूप हैं । **को** (स्त्री० की) संस्कृत का स्वार्थे तथा विशेषणीय **कः** प्रतीत होता है । काष्ठक > काठको : काठगो (क > ग), पत्रकः > पातगो । उसी तरह बोदगो, गोंदगी, गेंडको ।

§१८१. **दारो :** यह प्रत्यय संस्कृत की √धृ धातु के **धार** धातु-रूप से विकसित हुआ : बोलदारो, जणदारो, करदारो; खांदारो, पुछदारो । हिन्दी की बोलियों में यह हार रूप में आया है । **दार** इससे भिन्न प्रत्यय है जो उर्दू से आया प्रतीत होता है : धारीदार, मिजाजदार ।

§१८२. **वाण, याण, आण :** वान् या मान् से उद्भूत प्रतीत होते हैं । तछल्याण, फुक्याण, तभाण भग्यान, बुद्यान, गुणवान्, डाक्वान आदि अनेक शब्दों में इनका योग मिलता है । उसी प्रकार वन्तो, वन्ती प्रत्यय भी रोज के प्रयोग में आने वाले हैं । इनकी व्युत्पति **वत्** या **मत्** से संभाव्य है ।

§१८३. **वार्त** के योग से भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं; जैसे सकवार्त, बेडवार्त, बोवार्त, लवार्त, गोडार्त, रगड़वार्त । इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है । सम्भवतः **वार्ता** से इसका कोई सम्बन्ध हो ।

§१८४. गढ़वाली की रवांल्टी उपबोली में **ट, ड** और **ड़** ध्वनि युक्त प्रत्ययों का आधिक्य है। राजस्थानी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जाता है। इस ड़–प्रियता को अपभ्रंश की देन माना जाता है।[1] यही नहीं इसका मूल आस्ट्रिक भाषाओं के त में खोजा गया है।[2] इसमें इस प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की कल्पना की गई है : त>ट>ड>ड़। एक अनुमान यह भी है कि ड़ ध्वनि में परिवर्तित होने वाला यह **त** कर्मवाच्य कृदन्तीय प्रत्यय **त** ही है।[3] **त** के ड़ में विकसित होने की सम्भावनाएं हैं किन्तु यह **त** उक्त प्रत्यय ही रहा हो यह बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

इस वर्ग के कुछ प्रत्ययों का उल्लेख पीछे हो चुका है। कुछ इस प्रकार हैं : **ड़ो** और **ड़ी** प्रत्यय हिन्दी में भी प्रयुक्त होते हैं। गढ़वाल में इनके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे मुखड़ो (स्त्री० मुखड़ी), मरड़ो, हियड़ो, गौड़ी, नातड़ो, छांतड़ो। ये पत्यय पुलिंग (**ड़ो**) में आकार की गुरुता और स्त्रीलिंग (**ड़ी**) में लघुता का द्योतन करते हैं। कभी घृणा को व्यक्त करने के लिए भी इनका प्रयोग होता है—डोमड़ा, भटड़ा।

§१८५. **टो, टी** आदि प्रत्यय भी **ड़ो, ड़ो** की ही परम्परा में आते हैं। **टी** आकार की लघुता और सौन्दर्य का प्रत्यय है किन्तु **टो** उसका विरोधी है : तमोटो, कोल्टो, ढांट, अग्वाल्टी, धगूटी, डचांटी। इसी प्रकार **एट्ट** सम्बन्ध सूचक प्रत्यय है, जैसै, भौजेट्ट, (भाभी से उत्पन्न पुत्र), खसेट्ट (खश से उत्पन्न पुत्र)। उसी प्रकार बगेट्ट (भैंसा—भैंस से उत्पन्न) भ्रंगरेट्ट, कोलेट्ट आदि शब्द भी उसी अपत्य सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। सम्बन्ध सूचक प्रत्यय के रूप में याळ, वाळी तथा इनके पुलिंग रूपों **याळो वाळो** का प्रयोग विशेष होता है।

---

१ **डॉ० चाटुर्ज्या : राजस्थानी भाषा पृ० ३३**

२ **डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ४८**

३ **डॉ० उ० ना० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० १८७**

§१८६. गढ़वाली में विदेशी प्रत्यय अरबी-फारसी से आए हैं और उनका प्रवेश हिन्दी के माध्यम से ही हुआ है। इनमें **खाना, बाज, दार; ई, गिरी** आदि ही उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी प्रत्ययों का गढ़वाली में समावेश नहीं हो पाया।

उपसर्ग

§१८७. गढ़वाली उपसर्गों की संख्या अधिक नहीं है। कुछ का परिचय नीचे दिया जा रहा है :

[१] **अ** : असुख, अकामी, अचेत, अजाण, अबेर।
[२] **अण** : अणदेख्यूं, अणगणात, अणमिलो।
[३] **कु** : कुकाठ, कुमनखी, कुजात, कुसज, कुचाल।
[४] **औ** : औगुण, औतार।
[५] **दुर्** : दुरगति, दुरचाल, दुरबुद्धि।
[६] **नि** : निरोग, निखाणी, निरण्या, निचंत, निखल्म (निष्कर्म), कहीं **निर्** का भी प्रयोग मिलता है : निरभासी, निरबुद्धो।
[७] **स** : सचेत, सजाण, सनक्वाळ, (सकाल)।
[८] **सु** : सुफल, सुवाक्, सुदिन, सुवार।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब उपसर्ग संस्कृत से सम्बन्धित हैं। विदेशी उपसर्गों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

[१] **कम** : कमतैस, कमसल, कम-जात।
[२] **बे** : बेजां, बेबात, बेकाज।
[३] **ना** : नाख्वैन्दू, ना-लैख, ना-समज।
[४] **हर** : हरेक, हर वग्त।

इनके अतिरिक्त, कई अन्य प्रत्ययों और उपसर्गों का उल्लेख पुस्तक के अन्य अध्यायों में किया जा चुका है।

परिशिष्ट

गढ़वाली की उप बोलियां

○

§१८८. श्रीनगर और उसके आस-पास बोली जाने वाली गढ़वाली आदर्श मानी जाती है। इस क्षेत्र से बाहर गढ़वाली बोली के अनेकानेक भेद मिलते हैं। ग्रियर्सन ने गढ़वाली को आठ उपबोलियों में विभक्त किया है : श्रीनगरी, बधाणी, दसौल्या, मांझ कुम्मैया, नागपुरिया, सलाणी, राठी, टिहरयाली।[1] वैसे इतने अधिक भेद बहुत स्पष्ट नहीं किन्तु छोटे-मोटे अन्तरों को विभाजक माना जाय तो टिहरी जिले की बोली (टिहरियाली) को और कई उपबोलियों में विभक्त किया जाना चाहिए था। उसके मुख्य ये भेद ठहरते हैं—टकनौरी-बाड़ाहटी, रमोल्या, जौनपुरी, रवांल्टीं, बडियारगड्डी, टिहरियाळी (टिहरी नगर के आस-पास बोली जाने वाली मार्जित गढ़वाली)। किन्तु हमारी दृष्टि में इतने अधिक विभेद करना युक्ति संगत नहीं है। टिहरी जिले की गढ़वाली के दो भेद ही प्रयाप्त है : गंगाड़ी और जौनपुरी-रवांल्टी। गंगाड़ी और जौनपुरी नाम हमने गंगा और जमुना (यमुना>जौन) नदियों के आधार पर दिए हैं। वास्तव में पहाड़ो में गंगा और यमुना के तटों पर भाषा और संस्कृति का विकास दो भिन्न रूपों में हुआ है। सम्भवतः इनके तटों पर बसने वाले लोग भी भिन्न-भिन्न थे। गंगा प्रदेश की भाषा यमुना प्रदेश से काफी भेद प्रकट करती है। जौनपुर और

---

१ डॉ० ग्रियर्सन : लि० स० इं०, जिल्द ६. भाग ४

रवांई यमुना क्षेत्र में पड़ते हैं। इस प्रदेश की भाषा पर जौनसारी, हिमाचली आदि का प्रभाव अधिक है। यह प्रभाव यमुना के उद्गम पर उतना नहीं जितना ३०-३५ मील आगे चलकर है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश की भाषा में संस्कृत शब्दों में ऐसे तद्‌भव रूप मिलते हैं, जिनका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। उच्चारण में अ, ओ हो जाता है, ऐ, ओइ, स, श और ल ड़। महाप्राण ध्वनियां प्रारम्भ में भी अल्प-प्राण हो जाती हैं। क्रिया के दो वाले रूप कम प्रयोग में आते हैं, जैसे, कहां जाता है—सामान्य गढ़वाली में : कख जांदो; पर रवांल्टी जौनपुरी में—कोकी नठ। सहायक क्रिया छ का प्रयोग भी विरल है। बोलने के लहजे में रवांल्टी-जौनपुरी में स्वराघात और आरोह-अवरोह का महत्व-पूर्ण स्थान है। सम्वन्ध कारक में ए, रा, रे विभक्तियाँ प्रयोग में आती हैं।

§१८९, टिहरी के रमोली तथा उत्तरकाशी क्षेत्र में स ह में परिवर्तित मिलता है। टिहरी के आस-पास भूतकाल में छौ सहायक क्रिया की अपेक्षा थौ का प्रयोग होता है। उसमें संगीतात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति भी अधिक है। चन्द्रवदनी के मुसलमान चुरेड़ तो इस लहजे में बोलते हैं कि लगता है जैसे गद्य में ही कोई गीत गा रहे हैं। भरदार और बडियारगढ़ क्षेत्र की बोली श्रीनगरी के अनुरूप है।

§१९०. गढ़वाल की उपबोलियों के उच्चारण में प्रयाप्त अन्तर दिखाई देता है। कुमाऊं और गढ़वाल के सीमावर्ती क्षेत्र के लोग [जिन्हें दोसांती (<देशांतिक) कहते हैं] एक मिली-जुली भाषा बोलते हैं।

§१९१. पौड़ी गढ़वाल की उप-बोलियों में ए ध्वनि या हो जाती है : देस : द्यास और ओ वा—घोड़ी : घ्वाड़ी। उसी प्रकार अ ऐ रूप में उच्चारित होता है : गणीक : गैणीक। मध्यग र् प्रायः समीकृत हो जाता है : मारला : माल्ला। करला : कल्ला, करणू : कन्नू। सहायक क्रिया के रूप में तो का प्रयोग भी मिलता है। क्रिया प्रायः एकारान्त हो

जाती है : गैन : गैने, लड़ीन · लड़ीने । अ ध्वनि **आ, ओॅ, अॅ** या **ऑ** रूप में मिलती है : घर : घॅर, घार, घॉर, घोॅर; बड़ा : बोॅडा । यही नहीं, सलाणी आदि में दीर्घ ध्वनियों की प्रवृत्ति ह्रस्व की ओर मिलती है, जैसे जमाना : जमनो । इसके विपरीत कहीं ह्रस्व ध्वनियां दीर्घ हो जाती हैं : छयो=**छायो, गयो : गाय** । टिहरी के औणू, बुलौणू आदि रूप पौड़ी क्षेत्र में आणू, बुलाणू आदि हो जाते हैं । कर्ता का परसर्ग **न ल** रूप में मिलता है और कर्म या सम्प्रदाय में **खुणी** परसर्ग आता है जो कभी **गणी** भी हो जाता है । सर्वनाम **मैं** एकाध क्षेत्र को छोड़कर **मी** रूप में प्रयुक्त होता है । ये विशेषताएं टिहरी गढ़वाल की उपबोलियों में नहीं हैं ।

§१६२. गढ़वाली बोली के इन अवान्तर भेदों के कारण ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों रहे हैं : यातायात की बाधा, दुर्भेघ्य पर्वत और नदियों के घेरे में गढ़वाल अनेक छोटे भागों में बंटने को बाध्य रहा है । फलतः उनमें भाषा का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र की बोली में कुछ स्थानीय विशेषताएं ऐसी भी मिलती हैं कि यह मानने को जी होता है कि उन क्षेत्रों के बसने वाले लोग विभिन्न जातियों के रूप में आए होंगे । ऐसा प्रतीत होता है कि गढ़वाल में कई जातियां आईं और बसीं और गढ़वाली भाषा को उन्होंने अपने उच्चारण में ढालने की कोशिश की । इनमें गुर्जर, खश, शक, किरात, कोल, भील, नाग आदि मुख्य रहे होंगे । और यदि यह माना जाय कि मध्यकाल में भी अनेक जातियां राजस्थान आदि से भागकर गढ़वाल आईं (जिसके पुष्ट प्रमाण नहीं) तो मानना पड़ेगा कि वे भी अपनी भाषाओं की प्रवृत्तियां लेकर आई होंगी । इस दृष्टि से गढ़वाली और राजस्थानी, भीली, गुजराती, मराठी, बंगला आदि तुलनीय हैं ।

§१६३. यहाँ गढ़वाल की उपबोलियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जो 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया' (जिल्द ६, भाग ४) से अंश

रूप में उद्धृत किए जा रहे हैं।

श्रीनगरी : कै आदमी का द्वी नौन्याळ **छया ऊंमान** छोटा नौन्याळ **न** अपणा बाबाजी **मा बोले** : हे बाबा जी, बिरसत मान **मेरो** जो हिस्सा छ **मैं सणी दे** देवा। तब ऊंन अपणी बिरसत बांट **देये**।

राठी : कै मनख का द्वी लौड़ **छाया**। ऊंमा नान लौड़न बाबू **गणी** बोल कि यार बाबू जो कुछ चीज बस्त मांयन बांटो **मी गणे** दे। तब **वैल** ऊँ **गणी** जो कुछ चीज छई बांट **देयँ**।

बधाणी : **कै** आदमी का द्वि छिचीड़ी **छिया**। **उनू मधे** नाना छिचीड़ी **न** अपणा बुबा जी मू बोलो कि हे बुबा जी माल असबाब **मैं** मेरी बाँट **मै सणी** न्यारो दे **दिया**। तब **वैल** असबाब **बांटी दियो**।

दसौल्या : **कई** आदमी का **दुई** लड़ीक **छया**। **तनू** मा काणिसा न **बोलो** हे बुबा माल **मांगन** की जो मेरो बाँटो **होव** सो मैं **देवा**। वेका बाबू न बाँटो **दिन्यो**।

नागपुरिया : **कै** बैख का दुई लौड़ा छया। **तौं** मधे लुड़ा लौड़ान बुबा **ले बोले** हे बुबा, जो मेरो बाँटो माल को सो मै दे। तव बुबान वैं **कणी** बाँटो दे **दिने**।

सलाणी : **कै** भ्रणा का दुई **नौना** छया। ऊँ मा काणसान अपणा बुबा मा **बोल्यो**, हे बुबा जी, माल ताल **मा** जु मेरो बाँटो होव सो मीं दी देवा। तब वैन ऊँ का बीच अपणो माल ताल **बाँटी दिने**।

टिहरियाली : एक भ्रणा का द्वी **नौन्याळ थया**। ऊँमान कणसान अपणा बुबा मा **बोले** कि हे बाबाजी, जु बिरसत को बाँटो मेरो छ मै दी **द्या**। तब वैन बिरसत ऊँ **सणी बाँटी दिने**।

ग्रियर्सन द्वारा संकलित कुछ उद्धरण मुझे उच्चारण की दृष्टि से ठीक तरह से अंकित नहीं **प्रतीत** होते। उदाहरण के लिए पौड़ी गढ़वाल की कई उपबोलियों में **मेरो** शब्द **म्यरो** या **म्यारो** और **बोले** **ब्वाले** रूप में उच्चारित होता है। **उच्चारण** की दृष्टि से नीचे के

ये उद्धरण दर्शनीय हैं ।[१]

टिहरी–श्रीनगरी : एक बगत मा द्वी नामी जोधा छा । एक पूरब का कोणा मा अर दोसरो पच्छिम का कोण मा रन्दो छौ । एका को नाऊं सुणीक दोसरा घर जनि आग लग जांदीं छइ । एक का डेरा से दोसरा का डेरा जाणा मा बार बरस को बाटो हिटणो पड़दो छौ ।

रवांई-जौनपुरी : यक्क समैयँ दू बेग्या बांक्का बीर हाँ । यक्क पूरब छोड्ड हैक्कू पछिम छोड्ड रौं । यक्का कु नौं सुणी, हैक्कू जड़ी फुक्की जाऊं । यक्का का दार सि हैक्का का दार जाण मु यक्क जुग कु बाट्टू हिटण पड़ो ।

चौंदकोटी-सलाणी : एक बैन मा दुई भारी नामी भैंड़ छाया एक पूरब मा हैक पच्छिम मा रैन्द छायो । एक को नाऊं सुणी हैक फुकेइ जान्द छयो । एक का घार ना हैक्का घार जाण मा बारा साल को बाट्ट हिटणू पड़दो छायो ।

इसमें भी टिहरी (नगर के आस-पास) की बोली का रूप नहीं आया है, जिसमें छ के स्थान पर भूत में थ क्रिया का प्रयोग होता है ।

भाषा के उच्चारण की नजाकत, लहजे और शैली की दृष्टि से ये उदाहरण विनोद की सामग्री प्रस्तुत करते हैं :[२]

बधाणी : कुण कत्ति हुन्यार ह्वँगे ।

सलाणी : मिल ब्वाल दादु रे, ब्वारी पर कपन्यार (कंप्वाण) चढ़ि ग्याया; ढमके बजाति डौंरो ।

जौनपुरी : को की जां रे म'ता । उंडि ओ रे ।

बजारी-श्रीनगरी : नौनों का बाबा जी पौ भर बासमती लाई छया । आज वी पकाए । द्वी फूल तौंन खाइने, द्वी मैंन; थोड़ा नौन्याळून

---

१ राहुल सांकृत्यायन : हिमालय परिचय (१) गढ़वाल, पृ० २८८

२ चक्रधर बहुगुणा : गढ़वाली साहित्य की भूमिका; पृ० ६१

भी खैन । बाकी सारी डेगची बचीं छ ।

टिहरियाली-बजारी : अलो गैल्या, मैं चल्या जैं रैं थौ। निन्याल का घुटरा। उतार पर खचपचैं गै था, पर चलरा मा मजा ऐ रई थौ ।

रागसी : खकान खाकड़ी का झाड़ वाला खाफळ का तळ खाकड़ मारे । (क>ख) ।

रवाँल्टी का बहुगुणा जी ने जो उदाहरण दिया है वह रमोली उत्तरकाशी की बोली के लिए ठीक पड़ता है, रवाईं की नहीं । रमोली की बोली का एक उदाहरण लीजिए ।

बल हैं लो काका, प्हैले हीदो हीदो जाण, तब हुरु इ हुरु, तब हड़की हड़की । हैं ली न्याळी, तु नांदी कैंह नी । (स>ह)

§१६४. एक ही शब्द के उच्चारण और रूप में गढ़वाली की विभिन्न उपबोलियों में अन्तर के मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं । यहां काले टाइप से ऐसे शब्दों की ओर इंगित किया गया है । कोष्ठकों में अन्यत्र प्रयुक्त रूप दिए जा रहे हैं ।

१. जौ जस **देने** (द्यान, देया) धरती माता ।
२. क्या **छयाँ** (छवा, छा, छन) बुबा जी निन्द सुनिंद ।
३. **दे** (दी) **देवा** (द्या) बाबा जी कन्या को दान ।
४. रैमासी **क्वे** (कु; को) फूल कविलास ।
५. चौपाती ह्वे **ग्याय** (गैं, गए) नैं डाळी पैयाँ जामी ।
६. लुकारी ब्वरियोंन चौ नाळी कूटयन्ने (कूटिन) ।
७. भोरलि पंछी ब्वे, वासण लैंने (लैन, लैगिन) ।
८. परगट ह्वै **जैन** (जान, जाया, जायन) पांच पंडऊं ।
९. चन्द्रागढ़ मा **रैन्द** (रौंद, रंद, रांद) ओ सूजु सुनार ।
१०. जा भुलि स्वांरी मन्यारी आयां **छौ** (छन) ।
११. ढेबरा **लुकदीन** (लुकदान, लुकदा, लुकदन) ।

१२. मैं (मी, मजि) बोलणू (बोन्नू, बोळनू) छौं ।

१३. मुंडळि खुरसेगे ब्वे (बोई, बई) मजुरी कै कै की (कैक, करीक) ।

१४. मैं घौर (घॅर, घौर, घार) गौं (गयूं) ।

१५. तुम मनखी छैं (छा, छयाई, छन), हम पशु छौं (छवां, छां) ।

१६. तुम जाणा होला (ह्वला, ह्वाला, ह्वैल्या) ।

१७. सैरी (सैडी, सरी) रात डग्र॑र (डैर, डौर) लगणी रैं (रये) ।

१८. मेरो (म्यारो, म्यरो) भैं छौ आयूं ।

१९. उ घर जै रै थान (छा) मैं भी गैल थौ ।

२०. बेल (वैन्न) गौं तैं घास देये (दिने) ।

२१. मीन त्यारा ड्यारा नी आण (औण) ।

२२. तै बोज (ब्वाज, ब्वॅज) भ्वीं धरदे ।

आगे के परिशिष्ट में हम इन उपबोलियों के साहित्यिक रूपों की चयनिका दे रहे हैं। गढ़वाली में साहित्य रचना टिहरी-श्रीनगरी में ही हुई है। इस भाषा का साहित्यिक रूप मिश्रित है। वास्तव में टिहरी (नगर) और श्रीनगर की गढ़वाली में कुछेक क्रिया रूपों के अतिरिक्त कोई बड़ा भेद नहीं है।

चयनिका

○

रवांई-जौनपुरी

(१) छोड़ दे बौंर[1] राती को इटणो[2], बोइरी[3] काटला चोर,
बाड़ी[4] जिकुड़ी तेरी जाली, मेरेअ्रँ लोबी ओन्द[5] ओर।

(२) तेरोअँ मेरोअ्रँ शौंगिय[6] लोड़्ड़ी ओरेर साता,
पारो बाजिय टोपिन्द बीच पड़ दैइन्त[7] सांपा।
सांपेर[8] नाईं मुंडकी पोरू देउले काटी,
आऊँ[9] चाइंथ दीटु ताऊँ[10] चाइंथी दिएरी बाटी[11]।

—गढ़वाली लोकगीत

(३) राति रैण खुलि, सिया बिजौंदी लागी,
पैर गलमुती हार, चूंगे रैका विकार।
नशी पाणी पणार, देखे शुना को मिर्ग,
सिया लागी बडरी बार, सिया अजबी नी आई।
तु जा लखण बाई, क्या लागी बडरी बार,
की भनी तामैं घलूड़ी, की तोड़ी गलमुती हार।

---

१ भौंर, २ हिटणो, ३ वैरी, ४ बाळी, ५ होन्द, ६ संगी, ७ दैत्य, ८ सांप का, ९ मैं, १० तू, ११ बाती।

१ डॉ० गोविन्द चातक : 'गढ़वाली लोकगीत' से उद्धृत।

तबरे की सिया पौंछी आइ राम लाइ बोल,
'पाणिकै शुना मिर्ग, एशे जांगिय आण ।'
'तेरा फूचे धंध, शुना का मिर्ग न हुन्द ।'
'कस बताऊँले साखी, देखे आपड़ी आंखी ।
जांगि शुना मिर्ग, ताऊंख मारवाड़ी पाग,
मुख आंगूड़ी धाधुरी, टोपली लखणार भाग' ।[1]

—सीता हरण

श्रीनगरी

भैर भैर कड़ी बण्यां रंदन बुलेन्द काठी खरोट ह्वल। पर भित्र हाय रे पापी पराणी ! मरे रांड बल खट्टा बिगर । यूं को ज्यू बोल्द कि छुयां जनि कै नखरयाली अर दुंदर बांद सणि चौंथरा मां घोटिइ पे जाँदा छा त कनो छौ । . चा धोती कुतरण्या बणी होव अर जन्यौ पर जुवां पड़यां होवन, पर इ सुद्दि जै कैका हात भात नि खांदा । गुर्जी को सैडो जीवन लोखू का व स्ता खपणू छ । पांच आना का बाना आप जावन दौं बल दोफराअॅ घमौऽ उकाळी का बाठौं चार-चार, पांच-पांच मैल दूर जै सकदन ? कब्बि ना, पर फलाणा गुर्जी जांद छन । जवरि तैं फलाणा गुर्जी का पुराणौं कू जमानू छयो मनखी त रया इ पर जु कखि अन्यो-अपरचाद होणू छ त द्यवता धै लगौन्द छया ।[2]

—फलाणा गुर्जी

समै बदलेणू रैन्दऽ जो बात पर न जाणे किलै मजि विश्वास नी होंदो । जबि-कबि मजि तजि बित्यां दिनू की याद औन्द त मजि सोचदू—समै नी बदलदो हम अफ्वीं बदली गयां । फेर बी अनासुर्त म्येरी आंख्यों का साम्णे एक तसवीर ऐकी रिंगण बैठि जांदऽ इनीं बत्थून, पर

---

1 डा॰ गोविन्द चातक : गढ़वाली लोक गाथाएं (मं हिनी प्रकाशन, राजपुर रोड देहरादून) पृ० १०७

2 अबोध बन्धु बहुगुणा, 'देवभूमि' १० अगस्त ५६ से उद्धृत ।

बिल्मौण की अळभौणी मा मनि अफ्वी अळजी जान्दूं ।[1]

—**मगना प्वीं**

हां, यात दुनिया च भैंजी ! अटकी चला त लोक धुरच्या **गणदन**, निसोळी चला त सीलो । तुम कन्नी भी चला घड़ा को मुख बुजेइँ सकेन्द घण्यासा कू ना । कै-कै तैं त दोष देला ! यख दूदौ धोयूं कु छ ? सब्बी उन्नी छन । लंका मा बल जु सबसे छोटू वो बावन गज । सबू तैं अपणी अपणी छ पड़ीं । तवा कीं तेरी अर भाड़ की मेरी । तेरो ढाकरीं घॅर आन न आन पर **मेरी** लोण डळीं **ऐ** जावो । मेरो हॅळ लगीं जावो चा तब बाढ़ी का बल्दू तैं बाग ली जावो । हैका की आलाचारी तैं कु देखद ? दिदा मर चा भुला, बल मैन मिछौळी जरूर खाण ? बल बिराळी क्या जाण पूजा को दई ? दुनियां द्वी हातुन बटोळणू जाणदीं । बल तुम हमारा **डेरा** आला त **क्या** ल्याला अर हम तुमारा डेरा औला त तुम क्या देला । सुण्याले इनी छ दुनिया तुमारी ।[2]

—**क्या गोरी क्या सौंळी**

छुम् घंघरू बाजला

ताछुम् ताछुम् ताछुम्, छुम् घंघरू बाजला,
हरीं भरीं देवद्यूळि, दमौ–ढोल गाजला !
चमकदार लाल द्यूळि, डांडयों की चूमद चूळि,
हरीं उथैं देव-द्यूळि, दमौं–ढोल बाजला !
भेंट पाती **लैकी** ढेर, गांदी छन मांगळेर,
पसुवा करद हेर-फेर, घंटा-घन बाजला !
कुणजौ का घणा बोट, पैकी तरजोट ओट,
बाळ दियो धर दिपोट, हाथ न कर काजला !
देवतौं की पुण्य थाति, पैंय्यां की झुक्क पाति;
आयौं मैं देखि जाति, ध्वज चमर डोलला !

---

१ **मगना प्वीं : दामोदरप्रसाद थपलियाल**

२ **डॉ० गोविन्द चातक : क्या गोरी क्या सौंली, पृ० १५**

कूंजा की गुच्छ डाळि, फूली वा वरण-विराळि;
फ्यूंल्यीं का बोट पाळि, अब उजास खोलला !
भरी कंडी और भारी, घूमी-फिरी सारी-सारी,
फूल लैन ये फुलारी, श्वेत, लाल, काजला !
दुबला की नथुली नाक, तिलण्या की करि बुलाक,
कूंजा की झुमक काख, रूप-राशि तोलला !
गौंन ऐन सुघड़ बांद, दिन मा जनी फुलीं चाँद,
माया की लैंर छांद, साज़ सजी बाजला !

—चक्रधर बहुगुणा

कुछौं मैं

न कुछ सार मै मा कि बरड़ाट छौं मै !
हरो छौं कभी कैन काटचो सुखायो,
लटोल्यो, पटोल्यो, लछचायो, रंद्यायो,
कि फिर बल्दू की धौरणी मा मैं चढ़ायो,
पुंगड़ियों—पुंगड़ियों फिरायो—घुमायो !
कई वर्ष तैं काम अपरणो चलायो,
पुराणो होयो टुटिग्यों तब जळायो !
टुटीं औ सड़ीं हॅल की लाट छौं मै !

[२]

कभी खाण पर छौं होयों छौ अंधेरो,
लुक्यौं छौ कि क्वी मुक्क देखो नी मेरो,
मगर कैन मै वख रहण नि **देयो,**
कि जब भैर फेंक्यो तब चैन **लेयो** !
कयों गोळ छेणो हथोड़ो चलाए,
सदा पीसी मिन देह अपरणी जलाए।
जु खपग्यों फुटचों घट्ट को पाट छौं मैं !

[३]

कभीं छौ सुखीं मैं नदीं का किनारा,
कि बेटीं बहू औंदीं छै गौं कीं सारा !
सभी भेद की बात अपणी लगैकी,
कि जांदी छई थक्क पूरी विसैकी !
पर छोड़िकी मैं नदी दूर भागे,
न क्वी पास अब, जब दुर्भाग्य जागे !
दुखी अर बाँजो पड्यू घाट छौं मैं !

[४]

कभी छाति पर लोग अपणी **हिटैंने**,
सभी ठोकरे और काँडा **मिटैंने** !
घरू का दुरू, दूर घर का बुलैंने,
भुल्याँ वर्षूं का लोग गला मिलैंने !
गए अब जमानो, बुरा दीन ऐने,
कि जाणे लोग मैं भूलि गैने !
कि अब भीड़-कांडौं भरी बाट छौं मैं !

—भगवती चरण शर्मा 'निर्मोही'

खुदेड़ नौनी

बौड़ि-बौड़ि ऐगी ब्वै, देख, पूष मैंना !
गौं की बेटी–ब्वारि ब्वै, मैतु आई **गैना** ।
मैतुड़ा बूलालि **ब्वे, बोई** होलि जौंकी,
मेरि जीकूड़ी मा ब्वै, कुयड़ि-सी लौंकी ।
मेल्वड़ी बासलि ब्वै, डाँड्यूं चैत मासऽ,
मौळि **गैंन** डाळि ब्वै, फूलिगे बुराँसऽ ।
लाल बणी होली ब्वै, काफलू डाळी,
लोग खाँदा होला ब्वै लोण राळी-राळी ।

ल्हालि कूरो गाडी ब्वै; गौं की बेटी ब्वारी,
हरि-भरीं होली ब्वै, गेऊं जौ की सारी।
मैतु ऐ गै होलि ब्वै, दीदी भुलि गौं की,
मेरी जीकूड़ी मा ब्वै कुयड़ि-सी लौंकी।
स्वामी जी सदानी ब्वै, परदेश रैने,
साथ का दगड़या ब्वै, घर आई गैने।
ऊंकू प्यारो ह्वैगी ब्वै विदेसू का बासऽ,
बाटो देखी-देखी ब्वै, गैन दिन-मासऽ।
बाडुली लगली ब्वै आग भभराली,
या त घर आला ब्वै, या त चिट्ठी आली!
गाळी देन्दी सासु ब्वै, भै बाबू की भारी,
बासी खाणू देन्दी, ब्वै बोली मारी-मारी।
बोदी तेरो बाबू ब्वैं जो रुप्या नि खादों,
मेरो लाड़ो प्यारो ब्वै, विदेशू जांदो।
बाबान बणाये ब्वै इनि गति मेरी,
ज्वानि उड़िगे ब्वै, बाटो हेरी हेरी!
चिठी भी नी आई, ब्वै तब बटी तौंकी,
मेरी जिकुड़ी मा ब्वै, कुयड़ी सी लौंकी।[1]

मेरो गढ़वाल

मैं कू छ प्यारो गढ़वाल!
कखी उच्ची डाँडी, कखी सैणा सौड़,
पाख्यऊं पाख्यऊं स्या गदन्यों की दौड़,
अगास जाणक इ पुंगड़ों की सीड़ी,
डांडी व काठ्यों की देखा अंग्वाळ!
धारू मरूड़ी छन गाडू धट्टड़ी,
ओर-पोर पुंगड़ी, बीच मा कूड़ी!

---

१ भजनसिंह : 'सिंहनाद' खुदेड़ बेटी गीत।

मोॅर अगाड़ी डाळी को छैल—
पाखा पंद्यारो, पाणी को ताल !

हिंसर, किनगोड़, काफळ दाणी,
आरू—घिघारू, बेड्डू की स्याणी,
डांड्र को सेन्दुर लाल बुरांस;
फ्यूंलीन झुक्क बणीं मेड्वाळ !

माळ की घुगूती मैत औन्दी,
हिलांस कैको रैबार लौन्दी;
खुद लगौन्द बासीक कफ्फू—
डाल्यऊं-डाल्यऊं हर साल !

माळू व चांदू भ्यैंस्यों का गोठ,
धौळा व बुल्ला बळदू की जोंट,
कैंटलेणी गौड़ी झंगलेणी वाछी,
भेरा व बाखरा छन धन-माल !

कांठ्यों उड़ीक जब जांद घाम,
धूळा की होन्दी सोनेरी शाम;
बुरकदी गौड़ी, घर मू छ बाछी,
भागीक औन्दी सनक्वाळ !

दिवा जसी जोत, आछरी ज्यूंदी,
आँख्यों के जैंकी ज्वानी छ चूंदी !
पति परदेश, घर पर बांद,
भेजदी चीठी देन्दी स्वाल !

पंडौं कू मंडाण, देवतौं की जात,
दिन कू धाण अर जागर रात;
कबी भूतू घड्याळो, कबी नाच—
नागर्जा, नगेलो, देव घंड्याळ !

झंकोर्‌यों रुणांट, रोपणी का ढोल,
दमौं की तुणामुणी, बांसुळी का बोल,
बळ्द्‌ का खांकर, भैंस्यों की घांडी,
छन छन बाजदी दाथी छुणक्यांळ ।
गितार छ गलो नचाड़ छ पैर,
छोपती, चौंफुल्ला, बाजू की लैर !
यख नौना, वख नौन्यों की पांत,
आंख्यों मा ज्वानी को उमाळ ।[१]

गुन्दरू का नाक बिटे सिंगाणा की धारी छोड़िक वेको मुख वैकी झगुली सब मैला छन। गुन्दरू की मां अलगसी, खलचट और लमडेर छ। भितर देखादौं बोलेन्द यख बखरा रंद होला। मेळो खणेक धुळपट होयूं छ। भितर तब क्वी चीज इथैं क्वी उथैं। सारा भितर तब मार घिचर होई रये। भांडा कूंडा ठोकरियूं मा लमडंणा रंदन। नाज पाणी की खत—एक माणी पकौणू कू निकाळन त द्वी माणी खतेई जांदन अर जु कैं डूम डुकला, भिखलोई सणी देणां कू बोला त हे राम ![२]

—गढ़वाली ठाट

सलाणी

क्या च म्यारी नाक कटीं जु शरम आ। जमनो बी देखणी छैं नयूं। तू बि गंवार की गंवार इ रैगे। अर या त्वीकू या बरखड़्यूं की किताव ल्हयी च। अब धाणी बटी ऐकी रोज ईं किताब पैढ़ा कैर।

दः गरम सुलार त ह्वै गाया। काम काज वेकू छ नी च। यूँ

---

१ डॉ० गोविन्द चातक : 'फूल पाती', पृ० ३--६

२ 'पहाड़ी' जी के लेख 'गढ़वाली साहित्य' से उद्धृत और सदानन्द कुकरेती द्वारा लिखित।

मीटिगूं लैं **दी दीण बुनें** त्वै घीड़ा **भोरी** रुप्या । हे छोरी, तू **रूणी** छई।[१]

—**भारी भूल**

टिहरियाली

कै जाति कु बिजणू उब्री **होन्दू** जब्री वीं मंगन क्वी-काई वीं सणी सजग्यौणक चरखुर पर लग्यां रंदान । ई बिजाल्दारा वीं **का** लिख्वार होन्दान । लिख्वार अपणी भासा सणी सब ति पैली हर्चंण नी देन्दू केन कि उ लिखै मा जनता की **गैल** रन्दू अर जनता सणी अपणी गैल हिटाळणू रन्दू । जु लिख्वार इनु नि [illegible]**दू** उ जनता सी बिगल्यूं **कर** रन्दू । पर जनता सणी बी अळेख्यूं चैन्दु कि उ बी इना दर्थ्याळा लिख्वार का फंडैं बिटिन कौथगीर न बणू । इनान त इनु होन्दू कि लिख्वारून लिख्यू अर लिख्यूँ लाख्यूँ फंडैं पड्यो । तब इन्नी त होण कि वीं जाति का साइत्त अग्नै सर्कणू त कख, पर बणनू भी थांगळ मा पड़ जान्दू । हम सणी अपणी भासा, अपणा लिख्वारू सणी कखर्योणू नी होलू ।

—**श्यामचन्द नेगी**

तू राँसू, राँसू, गौं का लैख नी **थई** । रांसू, गाड **मू** चल ! देख **दें** पाणि मा, कनी छ तेरी मुखड़ी ।

त तख **दी दें** गंगाळ फाळ । **इ** माचु गौं का सारी पिर्थी का फिरड़ी-फारड़ी **ओन्दान** और जरा सी पाणी **पेण** मा यूं का खूटा तड़क ट्रुटी जांदन ।

अबारी घास काटण **थौ** । बजारियों का नौना त बुडेन्द-बुडेन्द तलईं रन्दान पढ़ण लग्यां ।[२]

—**अध: पतन**

---

१ **जीतसिंह नेगी : 'भारी भूल' नाटक; पृ० १६;१८**

२ **अध पतन : भगवती प्रसाद पांथरी ।**